नौकर की कमीज : एक आलोचनात्मक अध्ययन

(एम.फिल0 उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु–शोध प्रबंध)

शोध–निर्देशक
प्रो0 केदारनाथ सिंह

शोधकर्ता
वैभव

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

1999

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
School of Language, Literature, & Culture Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Centre of Indian Languages

Dated :
21-7-99

DECLARATION

I declare that the material in this dissertation entitled "Nouker ki Kamiz : Ek Alochnatmak Adhyayan" submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other Degree of this any other university/institution.

(.....VAIBHAV.....)
Name of the Scholar

(Prof. KEDAR NATH SINGH)
Supervisor
CIL/SLL&CS/JNU

Chairperson
Prof. Nasser Ahmad Khan
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM : JAYENU, TEL. : (91-011) 6107676, 6167557 Extn 2217, Fax : (91-011) 6165886, 6106025

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
भूमिका		1 - 5
अध्याय - 1	: विनोदकुमार शुक्ल की कृतियां और समकालीन उपन्यास जगत : 'नौकर की कमीज' के विशेष संदर्भ में ।	1 - 25
अध्याय - 2	: वर्ग और नौकरशाही	26 - 59
अध्याय - 3	: 'नौकर की कमीज़' में परिवार, स्त्री समस्याएं और अन्य पात्र	60 - 96
अध्याय - 4	: शिल्प, भाषा और व्यंग्य	97 - 119
उपसंहार		120 - 125
संदर्भ पुस्तकें		126 - 131
सहायक पुस्तकें		
सहायक साहित्यिक पत्रिकाएं		

भूमिका

साहित्य में सृजनकर्म की परिभाषा देना जरा मुश्किल काम है । कमोबेश अपने में यह एक प्रवृत्ति है, एक मजबूरी, जिसका सम्बन्ध इस समय समाज और संसार में, एक प्रतिसृष्टि रचने के प्रयत्नों से है । साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना मेंउपन्यास एक ऐसी विधा है, जो इस प्रतिसृष्टि की रचना के लिएअपेक्षाकृत अधिक फैलाव विकासमान अथानक और चरित्र चित्रण का व्यापक धरातल प्रदान करती है ।

अधिकांश रचनाकारों की कलम उपन्यास लिखने के लिए इसलिए कसमसाती है क्योंकि दूसरी विधाओं में उनके अनेक भाव, विचार, कल्पना शक्ति और विजन समा नहीं पाते हैं । उपन्यास के उदय और विकास के पिछले सौ सालों के इतिहास को यदि हम छोड़ भी दें तो भी समकालीन रचनाशीलता की परिधि में आज लिखे जा रहे उपन्यासों की अनेक विशेषताएं लक्षित होती हैं । आज के रचनाकार उपन्यास को बतौर एक विधा के अधिक चुनौतीपूर्ण मानते हैं, इसलिए उपन्यास लिखना चाहते हैं । उपन्यास को उपेक्षित विधा मानने के कारण भी अनेक उपन्यास रचनाकार उपन्यास लेखन की ओर आकृष्ट होते हैं । समाज की रूढ़ियों, नैतिकता के जड़ प्रतिमानों और अमानवीय परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से तो उपन्यास विधा का महत्व पहले से ही स्वीकृत है । और इसका यह सर्वोच्च महत्व हमेशा बरकरार रहेगा ।

आज के समय में में समाज के अनेक स्तरों पर संघर्ष जारी है । विनोदकुमार शुक्ल का उपन्यास 'नौकर की कमीज' भी एक ऐसी कृति है जिसमें जीवन का संघर्ष है और साथ ही जीवन का वह सहज सौन्दर्य भी जिसके आगे परिस्थितियों से मिलने वाले अनेक दुःख भी पराजित हो जाते

हैं । व्यक्तिगत तौर पर इस उपन्यास की पहली बार पढ़ते समय मैं कुछ अनमना सा हो गया । लेकिन उपन्यास की दूसरी और तीसरी 'रीडिंग' में उपन्यास के कथानक और भाषा का जादू मुझ पर चढ़ना शुरू हुआ । निम्नमध्यवर्ग के जीवन के अपने अनुभव, दुःख, संघर्ष और परिवेश में मौजूद अपनी तमाम मानवीय कमजोरियों के साथ जीते एक आम व्यक्ति का चेहरा उपन्यास की कथावस्तु की कलात्मक अभिव्यक्ति में इन सब का महत्व धीरे धीरे मेरे आगे खुलने लगा ।

मैं मूल रूप से 'उन्नाव' जैसे एक अपेक्षाकृत पिछड़े हुए छोटे से शहर का निवासी हूं । इसशहर पर आधुनिकता का एक क्षीण-सा प्रभाव देखा जा सकता है लेकिन पिछड़ापन यहां के समाज पर आज भी सांप की तरह कुंडली मार कर बैठा हुआ है । रूढ़ियों, जड़ परंपराओं और कृत्रिम नैतिकता के गौरव गान के सहारे संतुष्ट रहने और सम्मानित होने वाले लोगों की यहां पर एक बड़ी संख्या है । यहां का धनी उच्च वर्ग जो आधुनिक पेशों से भी अपने को जोड़ रहा है, अभी अपनी सामंती अकड़ और फायदों को नहीं छोड़ना चाहता । उधर शहर में बसने वाले मज़दूर, निम्न मध्यवर्गीय लोग और तमाम गरीब लोग जीवन के संघर्षों में जूझ रहे हैं । 'नौकर की कमीज' को पढ़ते हुए बार बार मुझे यह अहसास होता जैसे कि मैं एक नई दृष्टि और संवेदना से अपने इस आधुनिक विकास और 'मुक्ति' के लिए छटपटाते शहर की पीड़ा को समझ पा रहा हूं । शायद किसी रचना की सबसे बड़ी सफलता भी यह होती है कि वह हमारे भोगे और देखे गए जीवन के प्रति हमें अधिक समझदार बना देती है । उससे हमारा एक नया विवेक सम्मत रिश्ता कायम कर देती है ।

आज के साहित्य और गंभीर चिंतन में मनुष्यता और मानवीय मूल्यों पर छाए संकट के बादलों की काफी चर्चा है । ग़ालिब ने अपने समय और आज की सामाजिक दशा का पूर्वानुमान करके ही शायद लिखा

होगा -`आदमी को मुयस्सर नहीं इंसां होना` । लेकिन अनेक आलोचक और चिंतनशील लेखक आज के मानवीय मूल्यों और मनुष्यता के संकट की चर्चा कुछ इस प्रकार करते हैं, जैसे कि पहले कभी इस संकट का अस्तित्व ही नहीं था । आलोचकों और लेखकों का यह वर्ग अतीत-मोह से ग्रस्त है । यह मूल्यों और मनुष्यता के पतन की जिम्मेदारी आधुनिक समाज पर आ रहे बदलावों पर मढ़ कर अपने कर्तव्य से छुट्टी पा लेना चाहता है । जाहिर है कि मनुष्यता की यह हवाई चिंता रोजमर्रा के जीवन संघर्षों और आधुनिक बदलावों के बीच जीते जागते मनुष्य से दूर रह कर की जाती है, इसलिए जल्दी ही निरर्थक लगने लगती है । मनुष्यता की इन्हीं हवाई और नकली चिन्ताओं के बीच विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास `नौकर की कमीज` को पढ़ना और समझना जरूरी हो जाता है । इसलिए नहीं कि इसमें मूल्यों और मनुष्यता के लिए संघर्ष की कोई महाकाव्यात्मक गाथा हमें मिलती है, बल्कि इसलिए कि जिस मौजूदा तंत्र और अमानवीय संस्कृति की व्यवस्था ने समाज में मनुष्यताको `डिस्पेसेबल` बना दिया है, उसे ठीक ठीक पहचाना जा सके ।

शोध प्रबन्ध का विभाजन चार अध्यायों में किया गया है । शोध के पहले अध्याय में पिछले वर्षों में लिखे गए महत्वपूर्ण उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय है । साथ ही विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों, कविताओं कहानियों के विषय में एक आरंभिक चर्चा की गई है ।

दूसरे अध्याय में उपन्यास में मौजूद वर्ग और नौकरशाही की विशेषताओं का समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है । समाज के विभिन्न वर्ग, उनका उदय, इतिहास में उनकी भूमिका, जीवन शैली, उपन्यास के कथानक में उनकी उपस्थिति और नौकरशाही के सैद्धांतिक स्वरूप का विवेचन किया गया है ।

तीसरे अध्याय में उपन्यास `नौकर की कमीज` के विभिन्न प्रसंगों में मौजूद स्त्रियों की समस्याओं और उनके प्रति समाज के ढांचे में मौजूद क्रूरताओं के वर्णन का विश्लेषण किया गया है । इसी अध्याय में `नौकर की कमीज` के साथ लेखक के दूसरे उपन्यासों और कविताओं में उपस्थित `परिवार` के महत्व का अध्ययन किया गया है । उपन्यास के अन्य पात्रों का विवेचन भी इसी अध्याय में हुआ है ।

चौथा अध्याय उपन्यास की भाषा, शिल्प और व्यंग्य चेतना पर है । बाद के उपन्यासों `खिलेगा तो देखेंगे ` और `दीवार में एक खिड़की रहती थी` से उनके पहले उपन्यास `नौकर की कमीज़` की शिल्प और भाषा किस प्रकार से अलग है, इसका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है ।

कहते हैं कि जितना ही संपूर्णता को पाने और अभिव्यक्त करने की कोशिश की जाती है, उतना ही उसका अधूरापन प्रकट होता चला जाता है । इसलिए इस शोध प्रबन्ध में भी तमाम सावधानियोंऔर परिश्रम के प्रयोग के बावजूद अपनी कमियां होंगी । शायद कई चीजें छूट भी गई होंगी, जिनको शोध प्रबन्ध में स्थान दिया जाना चाहिए । आशा है कि यह कमियां नज़रअन्दाज नहीं की जाएंगी, जिससे कि मुझे अपनी शोध-कार्य करने की क्षमता को और अधिक तराशने का मौका मिल सके ।

अपने शोध निर्देशक प्रो० केदारनाथ सिंह के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूं जिन्होंने मुझे निरन्तर भाषा के प्रति सचेत किया है । अपनी भाषा में मौजूद कमियों को जानकर मैंने उसमें सुधार लाने का भरसक प्रयत्न किया है । उनकी उदार दृष्टि ने इस शोध प्रबन्ध के लेखन में मतभेद रखने और स्वतन्त्र विचाराभिव्यक्ति का अक्सर मुझे प्रदान किया है ।

अपने केन्द्र के शिक्षकों के प्रति मैं विशेष रूप से आभारी हूं । प्रो० मैनेजर पांडे, डा० पुरुषोत्तम अग्रवाल, डा० वीरभारत तलवार और डा० गोविन्द प्रसाद सभी के सतत सम्पर्क में विचार-विमर्श के जरिए हमेशा कुछ नया सीखने को मिलता रहा । ज्ञानार्जन को जीवन का ध्येय बनाने की प्रेरणा भी इन्हीं शिक्षकों से मिलती रही ।

यहां भाटिया जी को मैं विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहूंगा । `टाइपिंग` के अपने शानदार कौशल और मेहनत से उन्होंने मेरे लिए, सब कुछ बेहद सुविधाजनक बना दिया । वाकई भाटिया जी, आपकी प्रतिभा का कहीं कोई जोड़ नहीं । आपको बहुत बहुत धन्यवाद ।

इस शोध प्रबन्ध के लेखन में अनेक मित्रों का भी सहयोग मिला है । मित्रों के लिए आभार शब्द कुछ अधिक औपचारिक है, इसलिए इसका प्रयोग नहीं करूंगा । हां, शिवानी, राजेश, विजय जी, विक्रम, शक्तिवेल, रमेश, संजय, अंजय, हर्ष डोभाल और प्रदीप शर्मा इत्यादि सभी मित्रों को उनके सहयोग के लिए धन्यवाद अवश्य देना चाहूंगा ।

-

अध्याय - 1

विनोदकुमार शुक्ल की कृतियां और समकालीन उपन्यास जगत : 'नौकर की कमीज़' के विशेष सन्दर्भ में

इस बात को किसी अतिशयोक्ति के रूप में नहीं लिया जा सकता कि विनोद कुमार शुक्ल का नाम हिन्दी साहित्य के कथा और काव्य जगत में एक केन्द्रीय स्थान ग्रहण कर चुका है । अपने लगभग तीस साल तक फैले रचनाकर्म में उन्होंने जो उपन्यास, कहानियां और कविताएं लिखी हैं, उन रचनाओं ने समीक्षा के प्रचलित प्रतिमानों पर जारी यथास्थितिवाद को भी एक झटका दिया है । समाज के किसी नए यथार्थ की मौजूदगी की खोज उनकी रचनात्मकता की विशेषता बनकर नहीं उभरी है, बल्कि समाज के एक आम सुपरिचित यथार्थ को उसकी पूरी सहजता से प्रकट कर पाने की उनकी क्षमता ही उनकी कृतियों के मूल्यांकन को एक चुनौतीपूर्ण काम बना देती है ।

साहित्य में विनोदकुमार शुक्ल की पहचान एक सशक्त कथाकार के रूप में है और एक कवि के रूप में भी । सच यह भी है कि उनकी कथा रचनाएं और कविताएं, दोनों ही संवेदना और यथार्थ को देखने की दृष्टि के स्तर पर एक दूसरे के काफी नजदीक हैं । उनके उपन्यासों और कहानियों की भाषा और विषय-वस्तु में उनकी काव्य-संवेदना केवल एक छाया के रूप में नहीं, बल्कि ठोस प्रभाव के रूप में मौजूद है ।

विनोदकुमार शुक्ल का पहला उपन्यास `नौकर की कमीज़` जोकि इस शोध का विषय है, `संभावना प्रकाशन` से 1979 में छपा । पीछे यह उपन्यास 1994 में राजकमल प्रकाशन से छपने लगा । अपनी विषय-वस्तु की आकर्षक सादगी और रूपविधान की विशिष्टता के कारण इस उपन्यास ने साहित्य जगत में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया । जीवन के सामान्य रूप को कथ्य का विषय बनाकर, उसकी अभिव्यक्ति में असाधारण सम्प्रेषणीयता लाना विनोदकुमार शुक्ल की खूबी है ।

उनकी इसी खूबी को लक्ष्य में रख कर 'नौकर की कमीज़' की आलोचना में नाग बोडस ने लिखा था, 'मैं सोचता हूं विनोद की विशेषता उन के मौलिक होने के साथ-साथ एकदम अलग होने में है । इतना अलग कि दूर से ही मार्क हो जाते हैं । उनकी अभिव्यक्तियां स्मृति में गहराई से पैठ जाती हैं । लेकिन रचनाकर्म की विशिष्टता यदि एक ओर लेखक को अलग पहचान प्रदान करती है तो वहीं यह पहचान तमाम नई चुनौतियों को भी पैदा करती है । इसीलिए नाग बोडस अपने अगले वाक्य में कहते हैं, 'तो क्या अपने अलग होने का क्रास विनोद को हमेशा ढोते रहना पड़ेगा ?'[1]

'नौकर की कमीज़' अपने में एक सरल कथानक वाला उपन्यास है । एक ऐसे कस्बे के परिवार, सरकारी महकमे, आम व्यक्तियों और बाबुओं की जिंदगी का चित्रण है जिसमें अभी शहर की जटिल जिंदगी के प्रभाव नहीं पहुंचे हैं । परिवार और कस्बाई जीवन में घटित होने वाली घटनाओं की उपस्थिति ही इस उपन्यास को एक जीवंत आधार प्रदान करती है । सामाजिक यथार्थ की विषमता भी नितान्त सामान्य सी प्रतीत होने वाली सामाजिक घटनाओं के बीच पहचानी जा सकती है । उपन्यास अपने यथार्थ चित्रण की व्यापकता में परिवार, दफ्तर, और बाबुओं की जिंदगी और समाज के उच्च वर्ग से निम्न वर्ग के तनाव-पूर्ण सम्बन्धों के मुख्य कथानक की सीमा से आगे बढ़ता है और उसमें पीर की मजार, मूंगफलीवाला महावीर, सतनामियों का मोहल्ला, लासड़ी की दाल, झोपड़िया, कुली, सुबह-सुबह कमाने निकले मजदूर-मजदूरिनें इत्यादि भी प्रवेश कर जाते हैं ।

उपन्यास के मुख्य पात्र संतू बाबू और उनके दफ्तरी जीवन पर इस उपन्यास की कथा केन्द्रित है । समाज के निम्नमध्यवर्गीय परिवार के

व्यक्ति की घुटन और मजबूरी इन्हीं संतू बाबू जैसे पात्र के माध्यम से प्रकट होती हैं । इनकी पत्नी यदि उच्चवर्गीय मकान मालिक द्वारा पैदा की गई मजबूरियों की शिकार होती है तो संतू बाबू स्वयं अपने दफ्तर के बड़े अधिकारी यानी `साहेब` की सुविधाओं और चालाकी के जाल में फंसते हैं । लेकिन संतू बाबू अपने में केवल एक असहाय क्लर्क की जिंदगी के ही प्रतीक नहीं हैं । वे शोषण के जाल को पहचानते भी हैं और उसमें फंस जाने पर तमाम विवशताओं के बावजूद, उससे मुक्त होने के लिए छटपटाते भी हैं । उपन्यास के अंत में सभी निम्नमध्यवर्गीय बाबुओं के द्वारा नौकर की कमीज़ अर्थात् आदर्श नौकर के सांचे का सामूहिक दहन उनके इसी प्रतिरोध को प्रकट करता है ।

विनोदकुमार शुक्ल की रचनात्मकता बताती है कि वे उपन्यास के कथानक को किसी घोषित विचारधारा के सांचे में खींचतान कर फिट करने के खतरों से वाकिफ़ हैं । इसीलिए किसी विचारधारा की खोज भी इस उपन्यास में सफल न होगी । लेकिन जब कोई विचारधारा किसी रचना के स्तर पर `लाउड` नहीं होती है, तब भी कुछ मानवीय मूल्य अवश्य होते हैं जो रचना की धुरी का काम करते हैं । समानता और न्याय ही वह मूल्य है जिन्हें सर्वोच्च मानवीय मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए । साहेब-नौकर, निम्न वर्ग - उच्च वर्ग और स्त्री-पुरुष के बीच की विषमता को दिखाने के सहज, प्रयास में यह उपन्यास भी इन्हीं मानवीय मूल्यों के पक्ष में खड़ा है ।

विनोद कुमार शुक्ल के पहले उपन्यास नौकर की कमीज़ और बाद में प्रकाशित होने वाले दो अन्य उपन्यासों में एक लम्बा अन्तराल है । लगभग सत्रह वर्षों का । उनके अन्य दोनों उपन्यास `खिलेगा तो देखेंगे` 1996 में आधार प्रकाशन और `उस दीवार में खिड़की रहती थी` 1997 में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित हुआ ।

लेकिन इस बीच समकालीन कथाजगत में विभिन्न रचनाप्रवृत्तियों को रेखांकित करती हुई अनेक औपन्यासिक कृतियां प्रकाशित हुईं । पिछले बीस वर्षों में अनेक लेखकों के प्रमुख उपन्यास प्रकाशित हुए । इन दो दशकों में प्रकाशित प्रमुख उपन्यासों की चर्चा समकालीन रचनाजगत की समझदारी हासिल करने और उसके मध्य विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों के मूल्यांकन के लिए एक दृष्टि प्रदान करेगी ।

इस चर्चा के लिए `एक चिथड़ा सुख` (निर्मल वर्मा), `मैय्यादास की माड़ी` (भीष्म साहनी), ढाई घर (गिरिराज किशोर), `महाभोज` (मन्नू भंडारी), कठगुलाब (मृदुला गर्ग), `नीला चांद` (शिवप्रसाद सिंह), `शाल्मली` (नासिरा शर्मा), `उस चिड़िया का नाम` (पंकज बिष्ट), `डूब ` (वीरेन्द्र जैन), `झीनी झीनी बीनी चदरिया` (अब्दुल बिसमिल्लाह), `मुझे चांद चाहिए` (सुरेन्द्र वर्मा), `पाहीघर` (कमलाकांत त्रिपाठी), `चाक` (मैत्रेयी पुष्पा) जैसे उपन्यासों का विश्लेषण करके रचनात्मकता के विभिन्न सरोकारों को समझा जा सकता है ।

अब सबसे पहले निर्मल वर्मा के उपन्यास `एक चिथड़ा सुख` (1979) को लिया जाए । यह उपन्यास थियेटर की दुनिया में काम करनेवाली स्त्री बिट्टी और उसके मित्रों की जीवनशैली को आधार बना कर लिखा गया है । बिट्टी, इरा, नित्ती और हेरी सभी थियेटर की दुनिया में डूबे हुए ऐसे लोग हैं जो एक दूसरे के निरन्तर साथ होते हुए भी एक मर्मान्तक सूनेपन को अपनी नियति के रूप में अपनाए हुए हैं । उनका अकेलापन एक सामान्य मनुष्य का अकेलापन है और एक कलाकार का अकेलापन ।

`मैय्यादास की माड़ी` (1988) भी भीष्म साहनी का एक ऐसा महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसमें भारतीय समाज के संक्रमणकाल के तनावों को

उपन्यास की विषयवस्तु बनाया गया है । उपन्यास का कथानक पंजाब के सामंतों और जमींदारों की जीवन शैली में आ रहे परिवर्तनों और सामंतवादी ढांचे के टूट कर बिखरने की पृष्ठभूमि पर आधारित है । भीष्म साहनी का यह उपन्यास अपनी समूची बनावट में इसी तर्क को प्रकट करता है कि एक बड़े कैनवास पर यथार्थ का संवेदनशील चित्रण ही रचना को एक खास ऊंचाई प्रदान करता है । अपने उपन्यासों के विषय में लिखते हुए भीष्म साहनी ने रचना, यथार्थ और विचारधारा के सम्बन्धों की व्याख्या करने की प्रक्रिया में लिखा - 'जिस रचना में जिंदगी की मार्मिक सच्चाई झलकती है, वहां रचना का स्वरूप ही विचारधारा का समर्थन कर देता है ।'[2]

शिवप्रसाद सिंह का उपन्यास 'नीला चाँद' (1988) एक विस्तृत फलक पर लिखा गया ऐसा उपन्यास है, जिसे हिन्दी के उपन्यास जगत की एक उपलब्धि के रूप में देखा गया है । उपन्यास की विषयवस्तु का सम्बन्ध इतिहास से है, लेकिन उपन्यासकार के दृष्टिकोण की आधुनिकता इस उपन्यास को भी आधुनिक संदर्भों से जोड़ देती है । ग्यारहवीं शताब्दी की काशी के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन को पूरी समग्रता से उभारने में लेखक ने इतिहास और कल्पना दोनों का ही सहारा लिया है । तत्कालीन जीवन के विभिन्न रूप इस उपन्यास में बारीकी से उभर कर आए हैं ।

मन्नू भंडारी का उपन्यास 'महाभोज' (1979) एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें आज के समाज के प्रभुवर्ग द्वारा संचालित राजनीति और उसके निरन्तर समाज के पतनशील मूल्यों में फँसते जाने की कथा मौजूद है । हरिजन बस्तियों का जलना, अपराध, भारतीय जनता की भीरुता और

दयनीयता और न्यस्त स्वार्थों के लिए नेताओं-आकाओं द्वारा किसी भी सीमा तक बर्बरता में विश्वास रखना यह सब प्रकट करते हुए यह उपन्यास वर्तमान यथार्थ की भयावहता की एक पूरी तस्वीर हमारे सामने उतार कर रख देता है ।

पिछले कुछ वर्षों में स्त्रियों के दोयम दर्जा प्राप्त होने की सामाजिक स्थितियों का खुलासा करने वाले अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए । मृदुला गर्ग का उपन्यास कठगुलाब (1996) भी पुरुष सत्तात्मक संरचना में मौजूद नारियों के शोषण को अभिव्यक्त करता है । उपन्यास पर फेमिनिज़्म यांत्रिक ढंग से न थोपे जाने के बावजूद उपन्यास के तीनों स्त्री चरित्र`मारियान`, `नर्मदा` और `असीमा ` तीनों ही स्त्रीवाद के समर्थक हैं । पुरुष के द्वारा दैहिक और मानसिक शोषण के जाल को तोड़कर एक स्वाभिमान से भरे जीवन को जीने की ललक इन सभी स्त्री पात्रों में मौजूद है । उपन्यास का एक अन्य केन्द्रीय पात्र विपिन हर किस्म के नारीवाद के समर्थन देने की आड़ में मुक्त स्त्री सहवास के फायदे उठाने का प्रयास करने वाला पुरुष पात्र है । उपन्यास का कथानक पुरुष अत्याचार को ढंकने और उसको समर्थन देने वाली रूढ़ियों और परंपराओं को अनेक स्तरों पर ध्वस्त करता है । समाज के स्तर पर मौजूद स्वीकृत छवियों, मूल्यों, सिद्धान्तों और अवधारणाओं को सन्देह से देखने की जगत ही मृदुला गर्ग की रचना दृष्टि को एक धार प्रदान करती है ।रचना कर्म के उद्देश्य और सार्थकता को मृदुला गर्ग ने इस रूप में माना है, `लेखन एक उच्छेदक कर्म है और उपन्यास उच्छेदन का सबसे उपयुक्त माध्यम । मेरा मानना है कि साहित्य लेखन का ध्येय उस प्रचलित सत्य पर प्रश्नचिन्ह लगाना है जो सांस्कृतिक सत्ता द्वारा प्रतिपादित होता है और सत्तारूढ़ स्वीकृति के बल पर लोक से मनवाया जाता है ।`[3]

नासिरा शर्मा का उपन्यास `शाल्मली` (1987) भी इस विवेच्य अवधि का प्रमुख उपन्यास है । स्त्री को केवल एक निर्भर पत्नी के रूप में देखना और उसके पूरे व्यक्तित्व को अस्वीकार करना एक परिवार के भीतर पुरुष का प्रमुख चरित्र होती है । शाल्मली का मूल कथ्य भी इसी विषय से सम्बद्ध है । उपन्यास की नायिका शाल्मली अपने जीवन की तमाम विरोधी परिस्थितियों का सामना अपनी प्रतिभा और योग्यता के बल पर करती है । साहस और आत्मनिर्भरता पर विश्वास रखने के कारण उसके अपने पति से सम्बन्ध तनावपूर्ण हो जाते हैं । कुल मिलाकर उपन्यासकार का स्त्री मुक्ति के जिस दर्शन पर पूरा भरोसा है, वह शाल्मली जैसी नायिका चरित्र के रूप में काफी नपे तुले ढंग से प्रकट हो ही जाता है ।

पंकज बिष्ट ने अपने उपन्यास `उस चिड़िया का नाम` (1990) के द्वारा हिन्दी के उपन्यास जगत में एक मौलिक कथा प्रयोग किया है । यह उपन्यास छूटी हुई जगह और छूटे हुए लोगों तक जाकर वापस लौट आने की कहानी है । इसके कथानक में हरीश और रमा पिता की मृत्यु के अवसर पर घर लौटते हैं । पिता के साथ रमा और हरीश का रिश्ता एक दूसरे से भिन्न है । दोनों की स्मृतियां भी एक दूसरे से भिन्न हैं । दोनों पिता के रूप में अतीत से अलग अलग तरह से बन्धे हैं, इसलिए दोनों की मुक्ति की दिशा भी अलग अलग है ।

वर्तमान दशक के ही आरंभ में युवा उपन्यासकार वीरेन्द्र जैन का एक उल्लेखनीय उपन्यास `डूब` (1991) प्रकाशित हुआ । यह उपन्यास आज की उन भारी-भरकम विकास-परियोजनाओं की विडम्बनाओं को दिखाता है जो नदियों, पहाड़ों और जंगलों में बसे लाखों करोड़ों लोगों

को उनकी जमीन और संस्कृति से विस्थापित कर शरणार्थी बनने के लिए विवश कर देती है । बुंदेलखण्ड की सीमा पर स्थित बेतवा नदी पर बांध बनाने की परियोजना से एक बड़ा क्षेत्र 'डूब' क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाता है । शासन के लिए अपनी प्रशासनिक क्षमता प्रमाणित करने का अर्थ होता है पूरी संवेदनहीनता से उस अंचल विशेष के लोगों को दरबदर की ठोकरें खाने के लिए वहां से पलायन करने के लिए मजबूर कर देना । विकास परियोजनाओं से जुड़ी समस्याओं को इस प्रकार उठाकर रचनाकार ने पाठक वर्ग की संवेदनाओं को जीवन के एक नए क्षेत्र तक ले जाने का महत्वपूर्ण काम किया है ।

1986 में अब्दुल बिसमिल्लाह का बनारस के बुनकरों के जीवन की तकलीफों, शोषण और दुःख पर आधारित उपन्यास 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' प्रकाशित हुआ । इन बुनकरों की कला और कौशल का उपयोग कर चंद लोगों के हाथ में असीमित धन और शक्ति संकेंद्रित हो जाती है, लेकिन बुनकरों की जीवन-दशा में निरन्तर गिरावट आती जाती है । उपन्यास का एक पात्र जिसमें इस नग्न शोषण की व्यवस्था के खिलाफ़ प्रतिरोध की जागरूकता है । वह बुनकरों से कहता है - 'तकरीबन पच्चीस-तीस करोड़ रुपए की रेशमी साड़ियां हर साल आप लोगों की मेहनत से यहां तैयार होती हैं, पर आप को क्या मिलता है बदले में ? सिर्फ एक लुंगी, भैंस का गोश्त और नंग धड़ंग बच्चे, टीबी की बीमारी से छटपटाती औरतें ?'

'मुझे चांद चाहिए' सुरेन्द्र वर्मा का सर्वाधिक चर्चित उपन्यास है जो कि एक छोटे से शहर शाहजहांपुर से महानगर के अभिनय और कला के संसार तक पहुंचने वाली स्त्री वर्षा वशिष्ठ के जीवन संघर्ष की कथा है ।

1991 में कमलाकांत त्रिपाठी का प्रकाशित होने वाला उपन्यास `पाहीघर` 1857 के गदर की पृष्ठभूमि पर आधारित है । कथानक की पृष्ठभूमि अंग्रेजों के औपनिवेशिक शासन से जूझते अवध जनपद के जीवन और संस्कृति पर आधारित है ।

इसी प्रकार मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास `चाक` (1997) भी अभी हाल का एक अत्यंत चर्चित उपन्यास है जिसका ग्रामीण जीवन की राजनीति को व्यक्त करने, स्त्री पुरुष सम्बन्धों पर पुनर्विचार करने और यथार्थ दर्शिता केकारण काफी स्वागत किया गया । उपन्यास की नायिका सारंगा द्वारा अन्याय की व्यवस्था का विरोध, प्रेम को जीवन-मूल्य बनाने के कारण रेशमा और गुलकंदी जैसी स्त्रियों की हत्या, सारंगा के द्वारा बनाए गए विवाहेतर प्रेम सम्बन्धों जैसे घटनाक्रमों के माध्यम से उस ग्रामीण व्यवस्था को कथा में उठाया है जहां पारंपरिक रूढ़ियों से मानवीय स्वतन्त्रता का दमन किया जाता है और दमन को ही सामाजिक व्यवस्था का नाम दे दिया जाता है ।

उपरोक्त उपन्यासों के अलावा पिछले दो दशकों में ऐसे अन्य महत्वपूर्ण उपन्यास भी प्रकाशित हुए जिनमें एक ओर समाज में तेज़ी से आ रहे बदलावों की गूंज है, वहीं दूसरी ओर मानवीय मन के उस अन्तर्द्वन्द्व को उभारा गया है जो परिस्थितियों से टकराकर निरन्तर नया नया रूप धारण करते रहते हैं ।

निर्मल वर्मा का `रात का रिपोर्टर` (1989), गिरिराज किशोर का परिशिष्ट (1984) और `ढाई घर` (1991), रामदरश मिश्र का `दूसरा घर` (1986), राजी सेठ का `तत्सम्` (1983), मृदुला गर्ग का

`अनित्य` (1980), प्रभा खेतान का `छिन्नमस्ता` (1993) और `तालाबंदी` (1994), मैत्रेयी पुष्पा का `इदन्नमम्` (1994), मनोहर श्याम जोशी का `कुरु कुरु स्वाहा` (1980) और `क्सप` (1981), मंजूर एहतेशाम का `सूखा बरगद` (1986), प्रकाश मनु का `यह जो दिल्ली है ` (1993) और असगर वजाहत का उपन्यास `सात आसमान` (1997) ऐसे प्रमुख उपन्यास हैं जो समकालीन उपन्यास जगत में समाज के बहु-आयामी यथार्थ को संभव बनाते हैं ।

पिछले बीस वर्षों के प्रकाशित कुछ प्रमुख उपन्यासों की चर्चा इस तथ्य को सुस्पष्ट करती है कि विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यासों को समझने के लिए किसी अन्य लेखक के उपन्यासों को तुलना में नहीं रखा जा सकता ।

किसी पूर्व परिचित प्रयोग से उनकी मौलिकता को आंकने में मदद नहीं मिल सकती । उनकी कृतियां मौलिक होने की सारी शर्तों को पूरा करती हैं । लेखन के चालू मुहावरों से हट कर जीवन की नितांत साधारण छोटी और रोज़मर्रा के जीवन में दोहराई जाने वाली घटनाएं ही प्रभाव के स्तर पर असाधारण क्षमता से लैस होकर सामने आती हैं । एक अचरज की बात यह है कि विनोद कुमार शुक्ल ने अपनी कहानियों,उपन्यासों और कविताओं में अपने को जितना व्यक्त किया है, उसे ही वे काफ़ी मानते हैं । अलग से लेख, साक्षात्कार अथवा आलोचना की पुस्तकों के जरिए उन्होंने अपने मौलिक रचनात्मक प्रयोगों को सैद्धांतिक रूप नहीं प्रदान किया है । अपनी रचनाओं से बाहर कुछ अलग से लिख कर अपनी वकालत न करने की उनकी प्रवृत्ति अनायास ही शमशेर की इन पंक्तियों की याद दिलाती है -`बात बोलेगी । हम नहीं भेद खोलेगी । बात ही ।`

विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यासों में उनकी रचनादृष्टि में बदलाव इस सीमा तक तो नहीं हुआ कि उनके पहले और बाद के उपन्यासों के रूप विधान और कथ्य में कोई मूलभूत बदलाव आ जाए । लेकिन नौकर की कमीज़ का लेखक जीवन के जटिल ताने-बाने और संत्रास से इतना निरासक्त नहीं लगता, जितना वह प्रकाशित होने वाले अपने सबसे बाद में प्रकाशित होने वाले उपन्यास `उस दीवार में खिड़की रहती थी` में लगने लगा । नौकर की कमीज़ की तुलना में इसमें जीवन अधिक सरल, स्थिर और निश्छल रूप में उभर कर सामने आया है, जबकि देश और एक आम नागरिक की चेतना इस बीच के अंतराल में अधिक उथल-पुथल, अनिश्चय और हताशा के दौर से गुज़री है । राजनीति ने सत्ता का वह रूप धारण कर लिया है जो अपनी ऊपरी रंगत में जनतांत्रिक होने का अभिनय करती हुई नीतियों के स्तर पर जनविरोधी और निरंकुश होती चली गई ।

सत्ता और व्यवस्था में लोगों का विश्वास बनाए रखने के लिए वह लोगों की आशाओं को झूठे वायदों से जिलाए रखती है । फिर अपने स्वार्थ के हिसाब से उनका अलग अलग ढंग से इस्तेमाल करती है । प्रभु वर्ग के इस सत्ता तंत्र ने स्वतन्त्रता के गत पचास वर्षों में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को केवल चुनावी जोड़ तोड़ तक सीमित कर देने की अपनी निपुणता का परिचय दिया है ।

रघुवीर सहाय ने अपनी कविता `मुआवज़ा` में कभी लिखा था कि एक समय ऐसा भी आता है / बोलने के समय / भ्रष्ट कर्म करते हैं / बेकार तब हो जाता है बोलना ।`

लेकिन हिन्दुस्तान की मौजूदा अपारदर्शी सत्ता ने ठीक इसकी उलटी प्रवृत्ति अपनाई । उसने भ्रष्ट कर्म भी किए और तमाम हथकंडे लेकर अपनी

ताकत भी बढ़ाई । यह करते हुए भी देश के हर स्तर पर मौजूद भ्रष्टाचार से लड़ने और असहमत होने का पाखण्ड भी किया । शायद व्यवस्था की इस समूची विडम्बना की एक वजह यह भी थी कि विषमता, जातिगत और वर्गीय तनावों वाले सामाजिक ढांचे के इस देश में समता और स्वाधीनता के जनतांत्रिक सिद्धान्तों को ऊपर से थोप दिया गया । उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में भारत में पैदा होने वाले लोकप्रिय जनान्दोलन भी उस सामाजिक ढांचे को पूरी तरह से नहीं तोड़ सके जो लोकतन्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को अपने प्रतिक्रियावादी चरित्र से नष्ट करने की चेष्टा करता है । लेकिन राजनीति और सत्ता में मौजूद मानवता-विरोधी शक्तियों को समाप्त करने की क्षमता भी इन्हीं जनान्दोलनकारी ताकतों के ही हाथ में है । इसी आशावाद के समर्थक प्रख्यात भाषाविद और चिंतक नामचोमस्की का मानना है -'यदि सृजन और उत्पादन के लिए जिम्मेदार सामाजिक शक्तियों को, विशेषकर उन्हें जो मूल्य रचना करती हैं, संगठित कर एक लोकप्रिय आन्दोलन खड़ा किया जा सके तो कोई कारण नहीं कि राज्य सत्ता के चरित्र में कोई परिवर्तन न हो ।'[4]

राज्यसत्ता के इस चरित्र के प्रतिनिधि होते हैं समाज के ऊंचे पदों पर बैठे नौकरशाह । भारत में स्वाधीनता के बाद असली शक्ति भारत की जनता के हाथ में नहीं, बल्कि इन्हीं नौकरशाहों के पास हस्तांतरित हो गई जिन्हें एक दम्भपूर्ण जीवन शैली में जनता पर शासन करने की आदत थी । लेकिन ऐसा नहीं कि नौकरशाहों के इस निरंकुश और राज्यसत्ता के इस संवेदनहीन चरित्र के विरुद्ध आम शिक्षित वर्ग में कोई चेतना नहीं थी । लेकिन यह चेतना उस प्रकृति की थी जो जीवन को सुविधाजनक बनाने के लिए प्रतिरोध के स्थान पर समझौते का मार्ग अपना लेने को अधिक महत्व महत्व प्रदान करती थी । 'नौकर की कमीज़' के संतू बाबू इसी बात को

कुछ इस प्रकार सोचते हैं -'यदि एक बारगी कोई गर्दन काटने के लिए आए तो जी जान से लड़ाई होती । इसलिए एकदम से गर्दन काटने कोई नहीं आता । पीढ़ियों से गर्दन धीरे धीरे कटती है । इसलिए खास तकलीफ़ नहीं होती और गरीबी पैदाइशी रहती है । गर्दन को हिलाए हुए सब लोग अपना काम जारी रखते हैं - यानी गर्दन कटवाने का काम ।'[5] शोषण के घेरे में रहना और उसी घेरे में रह कर दर्द कम करने का उपाय करना, इसी निम्नमध्यवर्गीय मनोवृत्ति को उभारने के लिए लेखक ने संतू बाबू के चरित्र का सहारा लिया है ।

विनोद कुमार शुक्ल का दूसरा उपन्यास 'खिलेगा तो देखेंगे' भी एक साहित्यिक हल्के में विशेष रूप से चर्चित हुआ । अपनी भाषा के कारण और छत्तीसगढ़ी के आसपास के स्थानीय आदिवासी अंचल को हतप्रभ कर देने वाले लगाव के साथ प्रकट करने के कारण भी । उपन्यास में गुरुजी, उनकी पत्नी, उनके बच्चे मुन्ना और मुन्नी, घासीराम, जिवरा रबुन, डेराहिन, पुसऊ, मनहर, ग्राम सेवक, स्टेशन मास्टर आदि अनेक पात्र हैं । लेकिन इतने पात्र होते हुए भी उपन्यास में कोई एक ऐसी कहानी नहीं, जिसका एक सहज क्रम में विकास हो । अनेक छोटी-छोटी घटनाएं हैं, कभी गुरु जी के परिवारकी और कभी उस आदिवासी अंचल की, जो एक पूरे परिदृश्य को जन्म देती हैं । कहानी गौण हो जाती है और परिदृश्य प्रधान । उपन्यास के आरंभ में ही गांव की पाठशाला में पढ़ाने वाले गुरु जी तेज तूफान और आंधी में छप्पर की छत वाली पाठशाला के टूट जाने पर एक परित्यक्त थाने में रहने के लिए आ जाते हैं । यह थाना केवल दो लाक अप की शक्ल में है और गुरु जी कुछ डरते सकुचाते उसी में अपनी गृहस्थी जमा लेते हैं । उपन्यास में यथार्थ की जानदार अभिव्यक्ति है, लेकिन कई बार भाषा ऐसी है जो किसी फैंटेसी के निर्माण का आभास कराती हुई भी यथार्थ को ही समेटती है ।

गांव के थाने के लाक अप में अपने को `लोहाटी ताले ` से बंद करके उसमें रहने वाले गुरु जी के विषय में लेखक का सोचना है -`एक दरवाजे को बन्द कर हमने पूरे बाहर को बंद कर दिया है । एक छोटे से कमरे में अलग होकर स्वतन्त्र है । अपने कमरे का दरवाजा बंद कर हम ने सारी दुनिया को बाहर बंद कर दिया । सारी दुनिया हमारी कैद में है । अपने दरवाजे को खोलकर हम दुनिया के कमरे में जाते हैं ।`[6]

`खिलेगा तो देखेंगे ` में जिस छत्तीस गढ़ी अंचल की कथा है, उसमें गांव का एक सामान्य सामुदायिक जीवन है और साथ ही विकास के अनेक कार्य शुरू हो गए हैं । अपने अतीत और परम्पराओं से जुड़ा यह सामुदायिक जीवन ऐसा है जिसमें पाठशाला में पढ़ाने वाले गुरु जी किसी लड़के की पट्टी पर लिख कर जिवराखन दुकानदार के पास अपना संदेश भेज सकते हैं । तालाब के किनारे लोग कसरत करने के लिए इकट्ठा हो सकते हैं । लोग कुएं की जगत पर दूल्हे की बूढ़ी मां को बिठा कर उससे हंसी ठिठोली में कुछ सवाल जवाब करने के स्थानीय रीति रिवाजों को निबाहते हैं । लेकिन जैसे भारत के सैंकड़ों वर्षों से अलग थलग पड़े सामुदायिक अंचलों में कानून और विज्ञान की व्यवस्था के प्रवेश आरंभ हो गया है, वैसे ही प्रक्रिया यहां भी शुरू हो गई है । गांव के पास एक अन्य बड़गांव मेंएक बड़ा थाना खुल चुका है । गांव से दो कोस आगे चल कर `मुसुआ` नामक छोटा-सा देहाती स्टेशन भी बन कर तैयार हो चुका है ।

स्टेशन से थोड़ी दूर एक बस स्टैंड भी बन गया है जिसे उपन्यासकार के ही शब्दों में -`दो सटारा बस इधर से और उधर से आती थी । यदि गाड़ी गांव के आदमियों को बाहर ले जाने का काम करती थी तो बस इसके उलट केवल आदमियों को लाने का काम करती है ।`[7]

इस प्रकार उपन्यास में वृत्तांत का जो केन्द्र है, उसे गांव कहा गया है । पड़ोस के कुछेक गांवों के नाम हैं जैसे लालपुर, हल्दी, बड़गांव, मुसुआ आदि । लोगों में से कुछेक के नाम हैं घासीराम, जिउधासन, डेरहिन, पुसरु, मनहर । इसके अतिरिक्त सब गुरु जी, मुन्ना मुन्नी, पाठशाला निरीक्षक, ग्राम सेवक या स्टेशन मास्टर के रूप में जाने जाते हैं । वृत्तांत में कहीं किसी चरित्र के किसी नाम का इस्तेमाल न होने से कुछ खटकता नहीं । भारतीय समाज में जातिवाचक संज्ञाओं का प्रधान महत्व है, उसी के अनुरूप उपन्यास में जातिवाचक जानकारियां भी प्राप्त होती हैं । मसलन राउत, साव, देवर इत्यादि ।

विनोदकुमार शुक्ल ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से गांव के लक्षण को भी कई बार रेखांकित किया है । इस रेखांकन और वर्णन में किसी अकादमिक अनुशासन वाले समाजशास्त्रीय अध्ययन अथवा सिद्धान्त का सहारा नहीं लिया जाता । कोई नतीजा निकालने के लिए जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव ही काम में लाए जाते हैं । जैसे खिलेगा तो देखेंगे में एक स्थान पर उपन्यासकार लिखता है -`गांव के लोगों में सामान्य बातचीत में मीठा व्यंग्य और नाटकीयता होती है । दुःख में उपेक्षा की मीठी हंसी हंस देते । हंसी इतनी फीकी होती कि उसके बाद रोना आता । अधिकतर रोने में हंसी होती । कभी कभी सचमुच रो देते । पचास पैसे की जलेबी की मिठास कई दिन तक रहती । कभी कभी पांच छह महीने तक रहती ।`[8] यह उपन्यासकार के जीवंत अनुभव का प्रतीक है और एक दृष्टि से ऐसी पंक्तियों से उपन्यास के भीतर निबन्ध की मौजूदगी का भी अहसास होता है ।

विनोदकुमार शुक्ल का तीसरा उपन्यास `दीवार में एक खिड़की रहती थी ` अपने पहले के दो उपन्यासों -`नौकर की कमीज़`और `खिलेगा

तो देखेंगे ` से अनेक अर्थों में अलग है । `खिलेगा तो देखेंगे ` के गुरुजी भी एक अध्यापक थे, लेकिन उनके परिवार और निजी जीवन की गांव से अधिक गहरी संलग्नता के कारण परिवेश और जीवन के लोकप्रचलित यथार्थ को उभरने का मौका मिल सका था ।`दीवार में एक खिड़की रहती थी` के प्रमुख पात्र रघुवर प्रसाद भी निजी महाविद्यालय में व्याख्याता हैं, लेकिन अपनी पत्नी सोनसी समेत जी गई अपनी आत्मकेंद्रित दुनिया को ही असली दुनिया समझते हैं ।

रघुवर प्रसाद एक छोटे से कमरे में रहते हैं और अपने कमरे के पीछे की खिड़की से वे सुरम्य बाग और स्वच्छ जल वाले तालाब की ओर अपनी पत्नी के साथ जाते रहते हैं । इस सुरम्य प्रकृति के वर्णन में वैवाहिक जीवन के भीतर अपनी पत्नी सोनसी से उनकी सम्बन्धों की प्रेम संवेदना अपनी पूरी कोमलता के साथ झलक उठती है । रघुवर प्रसाद जिस सत्तर हजार की आबादी वाली बस्ती में रहते हैं, वह महाविद्यालय से आठ किलोमीटर की दूरी पर है । पहले टेम्पो से महाविद्यालय जाने वाले रघुवर प्रसाद बाद में एक साधु के हाथी पर महाविद्यालय जाने लगते हैं । इस उपन्यास में नई नई घटनाओं के अधीन लगातार विकसित होती हुई कोई कथा नहीं है, लेकिन जीवन के अनेक ऐसे छोटे छोटे रोचक टुकड़े हैं जो अपने में एक कथाक्रम का एहसास कराते हैं । महाविद्यालय साधु, हाथी, घर, घर के पीछे की ताज़गी और सुरम्यता से भरी प्रकृति, मां बाप और छोटे भाई तक सीमित रघुवर प्रसाद और उनकी पत्नी की दुनिया को जिस काव्य संवेदना से उपन्यास में लाया गया है, उससे उपन्यासकार की विलक्षण रचनात्मकता और धीरज का पता चलता है ।

इस उपन्यास के अनुकथन में विष्णु खरे ने ठीक ही लिखा है - `इस उपन्यास में कोई महान घटना, कोई विराटसंघर्ष, कोई युग सत्य,

कोई उद्देश्य या कोई संदेश नहीं, क्योंकि इसमें वह जिंदगी, जो इस देश में वह जिंदगी है, जिसे किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में निम्न-मध्यवर्गीय कहा जाता है, इतने सालिस रूप में मौजूद है कि उन्हें किसी पिष्ट कथ्य की जरूरत नहीं है । यहां खलनायक नहीं है किन्तु मुख्य पात्रों के अस्तित्व की सादगी, उनकी निरीहता, उनके रहने, आने जाने, जीवन-यापन के वे विरल ब्यौरे हैं जिनसे अपने आप उस क्रूर प्रतिसंसार का अहसास हो जाता है जिसके कारण इस देश के बहुसंख्यक लोगों का जीवन वैसा है, जैसा कि उपन्यास में दिखाया गया है ।[9]

विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे गद्य की विधा के भीतर किसी बड़ी कविता को लिखने का प्रयत्न किया गया हो । भाषा बिम्बात्मक है और नाटकीय भावों के अनुरूप उसमें नाटकीयता भी है । जैसे उपन्यास (के प्र० 52 के एक प्रसंग) में पत्नी हाथी के बारे में पूछती है तो रघुवर प्रसाद सुनते हैं -'खिड़की के उस तरफ हमारा हाथी कैसे जाएगा ?

रघुवर प्रसाद जब पत्नी की बात का जवाब देते हुए कहते हैं कि खिड़की से हाथी नहीं जा सकेगा तो पत्नी को सुनाई देता है -'मन की खिड़की है । हाथी क्यों नहीं जा सकेगा ?' यानी महत्व इसका नहीं है कि क्या कहा जा रहा है, बल्कि उस स्वायत्त कल्पना का है जो उस के बोध को नियंत्रित करती है । कही हुई बात और गृहण किए गए अर्थ का यह अन्तर यांत्रिक यथार्थ की ज़मीन को तोड़ता है । यह यांत्रिक यथार्थ जब गौण हो जाता है तब उस संवेग का उदय होता है जो कविता के अधिक निकट है । काव्य रचना के इस संवेग में प्रकृति भी अपने जड़ रूप में नहीं, बल्कि मनुष्य के जीवन में निरंतर दखल देती हुई एक जीवित रचना के रूप में प्रवेश कर जाती है । प्रकृति और भाषा के इस अनूठे रूप पर

गद्गद् होकर राजेन्द्र यादव ने लिखा -"हिन्दी उपन्यासों में प्रकृति के इतने लगाव भरे रूप कहीं और देखने में नहीं आते । अद्भुत संयम और शैली से लिखा गया उपन्यास है । खिड़की, पति पत्नी के छोटे-छोटे प्रेम प्रसंग उनकी आकांक्षाएं, स्वप्न, फैंटेसियां सचमुच लम्बी कविता की तरह पढ़ी जा सकती हैं । भाषा का इतना सहज रूप जैनेन्द्र के बाद पहली बार विनोद कुमार ने ही दिया है ।"[10]

इन उपन्यासों के अलावा विनोद कुमार शुक्ल ने अनेक कहानियां भी लिखी हैं । इनके कहानी संग्रह का नाम है 'महाविद्यालय,' जो आधार प्रकाशन से प्रकाशित हुआ । इसमें संकलित कहानियां हैं - रूपए, बांझ, झुंड, टुकड़ा, पेड़ पर कमरा, भीड़ का फालतू वक्त, आदमी की औरत, गोष्ठी, टुकड़ा आदमी, महाविद्यालय और मक्खी । कहानियों में भी वही लेखन शैली है जिसका प्रयोग उपन्यास लेखन में किया गया है । पात्रों की आत्मचेतना में आई अनुभूतियां और विचार ही कथानक को पैदा करने और गति देने के काम में लाए जाते हैं ।

विनोदकुमार शुक्ल एक उपन्यासकार-कथाकार होने के साथ साथ एक महत्वपूर्ण और प्रतिष्ठित कवि भी हैं । ऐसे कवि जिनकी काव्य-भाषा और संवेदना के विषय में अब तक उपलब्ध मानदण्डों के आधार पर कुछ सरलीकृत निष्कर्ष तो निकाले जा सकते हैं, लेकिन उसकी सही पहचान और विशिष्टताओं का मूल्यांकन सम्भव नहीं ।

विनोद कुमार शुक्ल का पहला कविता संग्रह लगभग जयहिंद 'पहचान सिरीज़' के अन्तर्गत 1971 में प्रकाशित हुआ था । उनका दूसरा कविता संग्रह दस वर्ष के अंतराल के पश्चात् 1981 में संभावना प्रकाशन से निकला । यह था 'वह आदमी चला गया नया गरम कोट पहिन कर

विचार की तरह' । पुन: इनका अगला कविता संग्रह आने में ग्यारह वर्ष लगे । 1992 में उनका यह अगला कविता संग्रह 'सब कुछ होना बचा रहेगा' राजकमल प्रकाशन से छपकर आया ।उनकी अनेक रचनाओं का मराठी, उर्दू, मलयालम, अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं में अनुवाद हुआ । उनकी कविताएं इस बीच के वर्षों में अनेक पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही जिनमें पूर्वग्रह, साक्षात्कार और साखी आदि पत्रिकाएं प्रमुख हैं ।

कविताएं लिखने की एक अन्य शर्त होती है अपने ढंग की भाषा की खोज । कविता लिखने का अर्थ होता है शब्दों के सही अर्थों का भावों के अनुसार सही प्रयोग करना । कविता की इस भाषा के अन्तर्गत शब्द, बिम्ब और प्रतीक सभी अर्थ के वहन की भूमिका निभाते हैं । कविता के 'रूप' के महत्व को इस अर्थ में भी समझा जा सकता है कि कविता का 'रूप' कविता के बोध के स्तर लेखक और पाठक के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाता है । कविता में मौजूद सौन्दर्य-बोध और यथार्थ से उसके सम्बन्ध को कविता के इस रूपतन्त्र के माध्यम से ही ग्रहण किया जा सकता है । किसी कविता के प्रभाव और बनावट के अध्ययन में कविता की भाषा की सृजनशीलता का मूल्यांकन भले ही अपने में पर्याप्त न हो, लेकिन वह आवश्यक होता है । इसलिए कविता अपने रूपात्मक ढांचे में भाषा, बिम्ब और प्रतीक-विधान जैसे जिन अंगों पर निर्भर होता है, उसका महत्व कविता के कथ्य से किसी भी प्रकार कम नहीं होता है ।

रघुवीर सहाय ने रूपवाद बनाम काव्यवस्तु की वैचारिक बहस के इसी संदर्भ में अधिक बल देकर अपना पक्ष इस प्रकार रखा था -'रूप भी एक यथार्थ है, यह बात हमारे गुटवादी साहित्य के पंडे नहीं पचा

TH- 8245

पाएँगे, पर संसार की श्रेष्ठ रचनाओं में इसी बात के सच होने का प्रमाण मिलता है ।'[11]

विनोद कुमार शुक्ल की कविता को भी 'उधार की भाषा' से संतोष नहीं । अपनी मौलिक भाषा में अभिव्यक्ति की खोज वहां एक जिद की तरह आई जान पड़ती है । जैसे उनकी एक कविता है --

सुबह छः बजे का वक्त, सुबह छः बजे की तरह
पेड़ के नीचे आदमी था ।
कुहरे में आदमी के धब्बे के अंदर वह आदमी था
पेड़ का धब्बा बिलकुल पेड़ की तरह था'।[12]

DISS 0,152,3,N3792:9 152 N9

लेकिन भाषा के स्तर पर जिस प्रकार विनोदकुमार शुक्ल की कविताएं एक ताजगी का आभास कराती हैं, वहीं वे कभी कभी एक अर्थ-शून्य जटिलता में भी कभी-कभी उलझ जाती हैं । कविता संवेदना के सम्प्रेषण से ऊपर उठकर अपने जटिल प्रतीक विधान के दबाव में एक पहेली बन कर रह जाती है । जैसे उनकी कविता है - नदी में भीगने से

नदी में भीगने से लगता है
बरसात में भीगा
बिना छाता लिए जब कभी
टहलने निकला
बाढ़ में डूबी उलटी नाव की
छत के नीचे
हमारा घर बसा है ।[13]

Nehru University Library

लेकिन अगर कहीं विनोदकुमार शुक्ल की काव्यगत जटिलता खटकती है तो वहीं उनकी अधिकांश कविताएं भाव और विचार के बेजोड़ संतुलन

को पैदा कर हमें उस व्यापक भावभूमि पर ले जाती हैं जहां हम उनसे अभिभूत होने के लिए विवश हो जाते हैं । 1992 में प्रकाशित कविता संग्रह `सब कुछ होना बचा रहेगा` की भूमिका में अशोक वाजपेयी ने विनोद कुमार शुक्ल के इसी काव्यगुण को इस रूप में पहचाना है।

`एक ऐसे समय में जब अनेक शक्तियां हमें सिर्फ एक ही दुनिया तक महदूद और मजबूर रखने का षड्यंत्र कर रही हैं, ऐसी कविता का गहरा मानवीय मूल्य भी है, क्योंकि वह हमें अपनी अपर्याप्तता और घटित के व्यक्त न होने की विवशता का बोध कराते हुए भी शाश्वत और अनंत को हमारी पकड़, हमारे पड़ोस में लाती है ।`[14]

उदाहरण के रूप में `सब कुछ होना बचा रहेगा` संग्रह से विनोद कुमार शुक्ल की इस कविता को लिया जा सकता है - जो कुछ अपरिचित है

कितने लोगों
पहाड़ों जंगलों, पेड़ों, वनस्पतियों को
तितलियों, पक्षियों, जीवजन्तु
समुद्र और नक्षत्रों को
मैं नहीं जानता धरती को
मुझे यह भी नहीं मालूम
कि मैं कितनों को नहीं जानता ।
सब आत्मीय है
सब जान लिए जाएंगे मनुष्यों से
मैं मनुष्य को जानता हूं ।[15]

इसी प्रकार विनोदकुमार शुक्ल के संग्रहों और पत्रिकाओं में प्रकाशित बहुत सी कविताएं ऐसी है जो आत्म मुग्ध ढंग से जनवादी भले न हों,

लेकिन जिनमें अपने समाज, मूल्य और अंचल के प्रति एक विशेष चेतना देखने को मिलती है । यह कविताएं सामाजिक क्रांति लाने का दावा करके कोई सनसनी नहीं फैलातीं । लेकिन ऐसे संसार का स्वप्न उसमें जरूर झिलमिलाता है जिसमें मनुष्यों के समाज में धूप, पानी, हवा और वर्षा की तरह मनुष्यता भी सरलता से उपलब्ध हो सकने वाली चीज़ बन सके ।

मुझे बचाना है
एक एक कर
अपनी प्यारी दुनिया को
बुरे लोगों की नजर से
इसे सत्य कर देने को ।[16]

विनोद कुमार शुक्ल की यह मानवीय चिंता विशुद्ध एक मनुष्य की चिंता है । इस सम्बन्ध में उस अनुभूति प्रवण स्वभाव से है जिसमें दूसरों के दु:खदर्द को महसूस कर उसके प्रति चिंतित हो जाने की क्षमता है । यह किसी विचारधारा का सहारा लेकर विद्वान बने व्यक्ति के विश्लेषण की उपज नहीं है । उनके यहां प्रतिबद्धता का सम्बन्ध ऐसी किसी घोषणा से नहीं, जिसका काम शोर मचाना अधिक हो । इस का सम्बन्ध एक सजग मानव की संवेदना से है जिसमें संसार की मनुष्यता विरोधी घटनाओं के प्रति एक चौकन्नापन हर क्षण मौजूद है । वह चाहे फिर 'खड़ी युद्ध' हो या फिर किसी औपनिवेशिक देश के अधीन किसी देश की जनता की गुलामी । गुलामी एक वह दशा है जो मनुष्य की आत्मा पर भी तमाम बन्धन डालने की कोशिश करती है । वह न केवल व्यक्ति से व्यक्ति के सम्बन्धों को, बल्कि व्यक्ति से उसके वातावरण के सम्बन्धों को नियंत्रित करने का प्रयास करती है । कवि की अनुभूति ही यह पहचान सकने में समर्थ है कि कोई व्यक्ति जब किसी व्यवस्था के अधीन

गुलाम होता है तब उसके आसपास के वातावरण की तमाम वस्तुएं भी गुलाम हो जती हैं जिसे व्यक्ति का एक सहजीवी सम्बन्ध होता है । इस भाव को विनोद कुमार शुक्ल ने अपनी कविता में इस प्रकार प्रकट किया है --

एक गुलाम देश का सूरज
गुलाम ही है
गुलाम, चन्द्रमा, चांदनी
सुख दुःख भी गुलाम
हवा, हरियाली, उड़ता पक्षी
औरत और नवजात बच्चा भी
गुलाम ।
नेलसन मंडेला !!
इस दुनिया का अकेला सूर्य
अभी भी स्वतन्त्र नहीं है
जो तुम्हारा सूरज है
वह हमारा भी ।[17]

परमानन्द श्रीवास्तव ने उनके तीसरे कविता संग्रह `सब कुछ होना बचा रहेगा` में उनकी निरन्तर व्यापकतर होती हुई संवेदना और वैचारिक परिपक्वता से सम्पन्न काव्यगुण को लक्ष्य करते हुए लिखा था, `यह एक ऐसे सहज पर्युत्सुक कवि की कविताएं हैं जो प्रकृति और आसपास की असंख्य ध्वनियों को सुनता है और अपने अनुभव को व्यक्त करने के लिए अपनी भाषा से अधिक `मनुष्य ध्वनि` पर भरोसा करता है । मानवीय आत्मा को सुनने की लगातार कोशिश ही विनोदकुमार शुक्ल की कविता को हमारे कठिन समय के लिए, हादसों से भरे कठिन समय के लिए अधिक सार्थक, जरूरी और विश्वसनीय बनाती है ।`[18]

संदर्भ

1. नौकर की कमीज़ को लेकर ; पूर्वग्रह, मार्च 84, पृ0 203
2. उपन्यास लेखन, विधा की चुनौती - हंस, अंक जनवरी 1999
3. उपन्यास लेखन, वही
4. बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में, पृ0 38
5. नौकर की कमीज, पृ0 18
6. खिलेगा तो देखेंगे, पृ0 37
7. वही, पृ0 32
8. वही, पृ0 138
9. दीवार में खिड़की रहती थी, अनुकथन, पृ0 168
10. हंस, अंक अगस्त 1998, पृ0 13
11. अर्थात, पृ0 233
12. पूर्वग्रह - अंक नवम्बर-दिसम्बर 1988-89
13. पूर्वग्रह, अंक 63-64, 1984, पृ0 16
14. सब कुछ होना बचा रहेगा, भूमिका
15. वही, पृ0 40
16. वही, पृ0 48
17. वही, पृ0 70
18. साखी, प्रवेशांक, अक्टूबर-दिसम्बर 92

अध्याय - 2

उपन्यास में वर्ग और नौकरशाही

सामाजिक वर्गों के संदर्भ में किसी रचना की आलोचना करने का अर्थ होता है रचना को समाजशास्त्रीय अध्ययन के माध्यम से समझना । अन्य विधाओं की तुलना में उपन्यास एक ऐसी विधा है जो अमूर्त कल्पनाओं और क्षणिक भावनाओं तक सीमित न रहकर सामाजिक यथार्थ के अधिक निकट होती है । सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त कर सकना इसका स्वभाव है । उपन्यास का जन्म भी आज से लगभग 300 वर्ष पहले उस पूंजीवाद के आरंभ काल में हुआ, जब प्रेस, मुद्रण, संचार और किताब के अन्य साधनों के विकास के साथ साथ समाज में एक आधुनिक शिक्षित मध्यवर्ग का उदय हो रहा था । तब से लेकर आज तक समाज के इतिहास के विकास के साथ-साथ उपन्यास का भी विकास होता रहा है । उपन्यास लिखे जाने के उद्देश्य अलग अलग रहे हैं । यह उद्देश्य कभी पाठकों का मनोरंजन, कभी आत्मानुभूतियों को प्रकट करने की विवशता और आजीविका इत्यादि के रूप में रहे हैं । यानी ऐसे अनेक उपन्यास भी लिखे गए जिन का सामाजिक यथार्थ को अभिव्यक्त करना कोई सुनिश्चित प्रयोजन नहीं था, लेकिन समाज का कोई विशेष यथार्थ फिर भी उनकी रचनाओं में उभर कर आ गया । कभी प्रतीकात्मक पद्धति से सांकेतिक रूप में और कभी प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में ।

वर्ग भी सामाजिक यथार्थ का वह रूप है जिसका सम्बन्ध समाज के आर्थिक पहलू हैं । वर्ग की व्याख्या समाज में उत्पादन, उत्पादन के सम्बन्ध, उत्पादन के औज़ार और उनके विकास जैसी इकोनामिक कैटेगरीज़ के आधार पर होती है । वर्ग की एक सामान्य समाजशास्त्रीय परिभाषा यह है कि उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादन के आर्थिक साधनों से व्यक्तियों के सम्बन्ध के आधार पर समाज में वर्गों का गठन होता है । इसलिए सामूहिक या सामुदायिक अस्तित्व का नाम वर्ग है और इसका निर्धारण

व्यक्ति की मनमानी चेतना से नहीं, उत्पादन की ठोस परिस्थितियों में हितों की समानता के द्वारा होता है । यह परस्पर विरोधी और विभिन्न वर्ग जहां एक ओर व्यक्ति को विशेष सामाजिक परिवेश प्रदान करते हैं, वहीं दूसरी ओर एक व्यापक समाज के प्रति एक दृष्टिकोण भी । समाज के इसी वर्ग विभाजित यथार्थ और उसके वर्गीय सम्बन्धों को यथार्थ की कलात्मक पुनर्रचना के रूप में प्रकट किया जाता है, इसलिए उपन्यास की भूमिका केवल एक सामाजिक दस्तावेज तक ही सीमित नहीं होती है । मैनेजर पाण्डे ने अपनी पुस्तक 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में ठीक ही लिखा है, 'यह सच है कि दूसरे कलारूपों और साहित्य रूपों की तुलना में उपन्यास का स्वरूप समाज पर अधिक निर्भर होता है और उसका विकास समाज के इतिहास के साथ होता है । लेकिन यह भी सच है कि वहएक कला है, केवल सामाजिक दस्तावेज नहीं ; इसलिए सामाजिक यथार्थ, जीवन के अनुभव और इतिहास की गति रचनाकार की सृजनशीलता से पुनर्रचित होकर ही उपन्यास में आते हैं ।'[1]

उपन्यास का समाज की वर्गीय प्रकृति से एक बहुआयामी सम्बन्ध होता है । एक धरातल पर उपन्यास में आए विभिन्न पात्र विभिन्न व्यवसायों, परंपराओं और सामाजिक पृष्ठभूमियों से संबंधित होने के कारण अपनी वर्गीय स्थिति को प्रकट करते हैं । इन पात्रों के सामाजिक सम्बन्धों, मान्यताओं और परिवेश के चुनाव में भी इन वर्गीय स्थितियों का सहज प्रभाव दिखाई देता है । यह पात्र जिस आनंद, प्रेम, निराशा, क्रोध और समर्पण जैसे भावों की अनुभूत करते हैं, उन्हें प्राय: कामनसेंस के सहारे एक वर्गेतर शाश्वत मानवीय दशा समझा जाता है । लेकिन यह मनोवैज्ञानिक भावदशाएं भी मनुष्य के केवल किसी एकाकी प्रयत्नों की उपज नहीं होतीं । मनुष्य एक विशेष भौतिक वातावरण में रहकर अन्य

व्यक्तियों और प्रकृति से विशेष सम्बन्ध जोड़ कर इन्हें प्राप्त करता है । लेकिन यदि एक ओर एक सामान्य सत्य के रूप में यह बात सही है कि रचना के सभी पात्रों की जीवन-स्थिति और विश्वदृष्टि पर उपन्यासकार की वर्गीय पृष्ठभूमि पर सीधा प्रभाव पड़ता है, वहीं यह बात भी एक भ्रामक निष्कर्ष निकालने के बराबर है कि एक उपन्यासकार हमेशा अपनी वर्गीय विश्वदृष्टि की सीमाओं में ही रहकर सृजन-कर्म करता है । अन्य भाषाओं के साथ साथ हिन्दी के भी अनेक लेखकों के अनेक उपन्यास गिनाए जा सकते हैं, जिनके नायक और अन्य पात्र सामाजिक परिवर्तन, आदर्शवाद, मूल्यों इत्यादि से प्रेरित होकर अपनी वर्गीय विश्व-दृष्टि की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं ।

विनोदकुमार शुक्ल का उपन्यास 'नौकर की कमीज़' सरकारी दफ्तरों में काम करने वाले साधारण क्लर्कों के जीवन की कथा है । संतू बाबू, बड़े बाबू, गौराहा बाबू और देवांगन बाबू सभी लगभग एक सी आर्थिक और सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध पात्र हैं । सरकारी दफ्तर की कार्य प्रणाली में एक क्लर्क के रूप में उनकी जो स्थिति है, उसके हिसाब से उनका स्थान समाज के निम्न मध्य वर्ग के लोगों में गिना जा सकता है । उपन्यास के नायक संतू बाबू हैं इसलिए कथा और घटनाओं का केन्द्र उन्हीं के जीवन को बनाकर एक बी.ए. पास क्लर्क के जीवन के अभावों और असंतोष को प्रकट किया गया है । संतू बाबू की आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं है । वे विवाहित हैं, लेकिन अभी तक उनके कोई बच्चा नहीं है । शहर के बीचों-बीच वे शहर के एक नामी रईस डाक्टर का दो कमरों का खपरे की छत वाला मकान पचास रुपए किराया दे कर रहते हैं । यह मकान भी ऐसी जर्जर हालत में है जो बरसात शुरू होते ही किसी फूटे हुए बर्तन की तरह टपकने लगता है । राशन, सब्जी और कपड़ों के प्रयोग के मामले में भी उन्होंने अपनी आर्थिक बाधाओं के कारण

अनेक किस्म के अभावों से समझौते करने पड़ते हैं । मकान के पास स्थित गुप्ताजी की दुकान से उधारी सामान लेते हैं, लेकिन कभी उधारी पटा न पाने के कारण उनके ऊपर महंगाई के जमाने में चार सौ रुपए का कर्ज चढ़ जाता है जिसे चुकाना उनके बस की बात नहीं । लेकिन शोषण और अभावों के इस दायरे में रहने के बावजूद संतू बाबू को अपने जीवन में कहीं कुछ भी अस्वाभाविक नहीं नजर आता है । जीवन में विशेष सम्पन्नता की कमी उनमें कहीं बगावत करने की बेचैनी नहीं पैदा करती है । बस इतनी आकांक्षा है कि वे जीवन में जिन सुविधाओं के हकदार हैं, वह उनसे न छीनी जाए । बाकी उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि समाज और दुनिया को किसी वैकल्पिक समझदारी से बदलने की जिम्मेदारी निबाही जानी चाहिए। अपने वर्ग और एक आम व्यक्ति की इस यथास्थितिवाद को सुविधाजनक मानने की मानसिकता को संतू बाबू एक बड़े बूढ़े बुजुर्ग के सन्दर्भ में इस प्रकार प्रकट करते हैं -'तुम्हारी सारी कोशिश यह होनी चाहिए कि जो हालत तुम्हारी है, उससे खराब न हो । इससे तुम्हारे जीवन में शांति रहेगी । तुम्हें अपने काम को ठीक करना है । दुनिया का काम अपने आप ठीक चलता है । जैसा चल रहा है चलने दो । उतनी ही आग और लकड़ी इकट्ठी करो जितनी खाना बनाने के लिए जरूरत है । दुनिया में आग लगाने की माचिस सात समुद्र के नीचे है और वह भीग कर सैंकड़ों वर्ष पहले खराब हो चुकी है । वहां कोई नहीं पहुंच सकता । दुनिया को कोई नहीं बदल सकता । अगर तुम अकेले बदल जाओगे तो बुरी मौत मरोगे ।'[2]

उपन्यास के अन्य क्लर्क पात्रों - बड़े बाबू, गौराहा बाबू और देवांगन बाबू के जीवन और परिवार की घरेलू हालत की किसी प्रसंग में कोई विशेष चर्चा उपन्यास में नहीं है, लेकिन संतू बाबू के जीवन स्तर और समस्याओं को देख कर उनकी जीवन प्रणाली के विषय में भी एक सहज

अंदाजा लगाया जा सकता है । एक सरकारी दफ्तर की नौकरी ही उनके पास एकमात्र उपलब्ध वह आर्थिक आधार है, जिस पर उनका पूरा निम्नमध्यवर्गीय जीवन टिका हुआ है । दफ्तर में उनकी प्रोन्नति के अवसर बस इतने हैं कि वे भी कभी पन्द्रह बीस वर्ष की नौकरी के बाद `बड़े बाबू` के पद पर पहुंच जाएंगे । दफ्तर में अपने पद के अलावा एक ऊपरी प्रतिष्ठा और प्रभाव प्राप्त करने के लिए इनके मध्य एक आपसी स्पर्द्धा भी चलती रहती है । स्पर्धा इस बात की कि इनमें से कौन सबसे बड़े अधिकारी यानी `साहेब` का कृपापात्र बन जाए । सरकारी काम के अलावा भी अपने `साहेब` को प्रसन्न रखने के लिए दफ्तर के यह सभी बाबू अपने को उनके सेवकों की सूची में शामिल करने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं । नाग बोड्स ने उपन्यास के कथ्य के इसी महत्वपूर्ण पक्ष के विषय में लिखा है -`एक लम्बे समय तक सामंती तथा औपनिवेशिक में रहे देश में सरकार का मतलब अभी भी हुजूर सरकार से ही लगाया जाता है । इसलिए बड़े साहब का निजी काम भी उसी स्तर पर माना जाता है, जिस प्रकार दफ्तर का काम, बल्कि दफ्तरी काम से कुछ ऊंचे स्तर पर ही । उपन्यास के सभी बाबू, चरित्र में इसी मनोवृत्ति के हैं । यदि संतू नहीं है तो उनके आसपास का वातावरण और उसमें पैदा हुआ असुरक्षा का अहसास उसे ऐसा बनाने की कोशिश कर रहे हैं ।`[3]

किसी कृति में किसी वर्ग के जीवन को अन्य वर्गों के संदर्भ में ही ठीक से उभारा जा सकता है । जिस उपन्यास का कथ्य यथार्थ के अधिक समग्र और जटिल रूप को अपने अन्दर ग्रहण करता है, वह आय, व्यवसाय, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा के आधार पर विभक्त वर्गों के आपसी सम्बन्धों को अधिक गहनता से अभिव्यक्त करने में उतना ही अधिक सक्षम हो जाता है । यदि कृति के पात्र अपनी वर्गीय सीमाओं से मुक्त नहीं हैं, तब अपने ही वर्ग की

समकालीन अभिरुचियों, भावनाओं और विचारों के प्रतिनिधि का रूप ग्रहण कर लेते हैं । साहित्य की समीक्षा की इस वर्गवादी अवधारणा को एंगेल्स के इस विचार से समझा जा सकता है जो उसने फर्दीनेंद लासाल की एक रचना के संदर्भ में व्यक्त किए थे -'मुख्य पात्र निश्चित वर्गों और प्रवृत्तियों के और इसलिए अपने जमाने के निश्चित विचारों के प्रतिनिधि हैं तथा अपनी कार्रवाई के हेतुओं की तलाश टुच्ची व्यक्तिगत सनकों से नहीं, अपितु उस ऐतिहासिक धारा से करते हैं जो उन्हें आगे ले जा रही है ।'[4]

'नौकर की कमीज़' में भी संतू बाबू के निजी जीवन और समस्याओं के समानांतर अन्य वर्गों के जीवन का विस्तृत चित्रण तो नहीं, लेकिन उनकी सामाजिक स्थिति की काफी हद तक कुछ जानकारी मिल जाती है । लेखक इस भ्रामक असमंजस में कहीं फंसता नहीं दिखाई देता कि वह किस वर्ग के जीवन को अभिव्यक्ति के मामले में अधिक महत्व दे। दफ्तरी जीवन के साथ- जिस स्थानीय कस्बाई परिवेश को लेखक ने दिखाया है, उसमें सभी वर्ग गरीब, निम्न मध्यवर्ग और उच्च मध्यवर्ग सभी कथा के संतुलित ढांचे में यथार्थ के एक विराट सामाजिक परिदृश्य के भीतर मौजूद हैं । लेकिन इसके बावजूद कहना होगा कि उपन्यास 'नौकर की कमीज़' सरकारी महकमे के आम बाबुओं के निम्नमध्यवर्गीय जीवन पर अधिक केन्द्रित है और इसका विशेष परिणाम उपन्यास की रचनात्मकता और कथा पर पड़ा है । वह छोटी छोटी समस्याएं जो आम आदमी के जीवन को हमेशा घेरे रहती हैं, वह उपन्यास के विविध प्रसंगों में मौजूद हैं । आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों से उपजी इन समस्याओं के बोझ तले संतू बाबू जैसा आम आदमी पिसता भी है और अपने जीवन की सुरक्षा के उपाय के लिए उससे जूझता भी है । जैसे किराए के मकान की मरम्मत के लिए मकान मालिक से अनुनय निवेदन करना, उधार लिए राशन के रुपए न चुका पाना

एक बालटी पानी के लिए घंटों किसी सार्वजनिक नल की लाइन में खड़े रहना, महंगाई बढ़ने पर सब्जियों और दालों की खरीद में कटौती करना और आफिस के बड़े अफसरों के आगे दब कर रहने की मजबूरी इत्यादि ।

संतू बाबू की जिंदगी के समानान्तर संतू बाबू के मकान मालिक डाक्टर साहब और उनके दफ्तर के 'साहेब' के भी सुख सुविधा पूर्ण और सम्पन्न जीवन की झलक उपन्यास की कथा में मौजूद है । वे डाक्टरों, व्यवसायियों और ब्यूरोक्रेट के उस वर्ग से संबंधित हैं जिसका उदय समाज के आधुनिक विकास के परिणामस्वरूप हुआ । तर्क और विज्ञान के विकास ने समाज में इस वर्ग की जरूरत को पैदा किया । 1947 की आजादी के बाद के ही समय से ही इस वर्ग का शिक्षा, प्रतिष्ठा, पद और जीवन की विभिन्न भौतिक सुविधाओं पर नियन्त्रण बढ़ता रहा है । आर्थिक-सामाजिक हितों की समानता के आधार पर यह देश के शक्तिशाली शासक वर्ग के दृष्टिकोण को आत्मसात करता है । और आम जनता के जीवन को प्रत्यक्ष शोषण के घेरे में न लेने के बावजूद उन पर प्रभुत्व जमाने के गैर जनतांत्रिक संस्कारों से ग्रस्त होता है । समाज के विकास की एक निश्चित ऐतिहासिक प्रक्रिया में विशेषज्ञतापूर्ण कार्य करने वाले इस वर्ग का जन्म हुआ है । ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिनों में उन्नीसवीं सदी में आधुनिक शिक्षा से भारतीय समाज का जब पहली बार परिचय हुआ, तब परम्परागत भारतीय समाज में जाति, धार्मिक मान्यताओं और क्षेत्रीयता के आधार अधिक सचेत और लाभ की स्थिति में रहने वाले हिस्से ने उसका अधिक लाभ उठाया । इस वर्ग का एक हिस्सा ऐसा भी था जिस ने आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर समाज को एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखना आरंभ कर दिया । अपने को न्याय, समानता, क्रांति और मानवता वादी विचारों से जोड़ा । उन्नीसवीं सदी के अधिकांश सुधारक

और आजादी की लड़ाई के अधिकांश स्वाधीनता सेनानी आधुनिक शिक्षा प्राप्त इसी वर्ग से आए । लेकिन जो यह सोचता है कि इतिहास की सभी परिस्थितियों, किसी वर्ग की एक जैसी भूमिका रहती है, वह इतिहास की गति को गलत ढंग से समझता है । वर्गों की भूमिकाएं इतिहास में बदलती रहती हैं । इतिहास की विशेष अवस्था में पूंजीपति वर्ग प्रगतिशील हो सकता है, दमित श्रमिक वर्ग क्रांतिकारी हो सकता है और शिक्षित मध्यवर्ग भ्रष्ट और अवसरवादी बन सकता है । स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में एक लोकतांत्रिक समाजवादी राज्य के निर्माण का संकल्प लिया गया । लेकिन इस स्वतन्त्रता के बाद उपनिवेशवाद की अनेक बुराइयां भी हमें विरासत में मिलीं । इसी का परिणाम था कि प्रशासन और सत्ता के आतंक को देश की शासन-व्यवस्था का अंग बना लिया गया । मध्यकालीन संस्कारों, औपनिवेशिक चिन्तन और जनतांत्रिक विचारों - इन सभी के धुले मिले प्रभावों से धीरे धीरे भारतीय समाज का एक नया निर्माण होना आरंभ हुआ । स्वतन्त्र भारत का निर्माण जिन प्रभावों और परिस्थितियों से हुआ, उसकी झलक नौकर की कमीज में भी प्रकट होती है । मकान मालिक डाक्टर साहेब और दफ्तर के साहेब के अपनी जीवन शैली उत्पादन, श्रम और सेवा के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण से पता चलता है कि जनतंत्र ने देश में एक राजनीतिक व्यवस्था को तो कायम किया, लेकिन सामाजिक सम्बन्धों के स्तर पर उसका अपेक्षित प्रभाव नहीं पड़ा । यह दोनों ही जिस वर्ग के प्रतिनिधि हैं, उसमें भ्रष्टाचार और सामाजिक सरकारी संसाधनों पर एकाधिपत्य जमाने की प्रवृत्ति को एक सामान्य बात समझा जाता है । अब डाक्टर साहब को ही लिया जाए । इनके मकान में संतू बाबू किराया देकर रहते हैं । यह शहर के जाने माने बड़े डाक्टर हैं और सिविल लाइन में इनका एक बड़ा बंगला है । लेकिन इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्पन्नता का आधार केवल इनका डाक्टरी का व्यवसाय

नहीं, बल्कि वह पुश्तैनी जमीन जायदाद भी है जिसकी बदौलत कोई अकर्मण्य बने रह कर भी सम्पन्न बने हैं व रहने का सुख भोग सकता है। लेखक के ही शब्दों में, 'डाक्टर साहब की काफी जमीन शहर से लगी थी जिसमें ये खेती करते। खेत शहर के पास होने के कारण भिजाई के लिए धान कटकर यहां अहाते में जमा होता था। धान की ढेरी देखकर हम लोग अन्दाज लगाने की कोशिश करते थे कि फसल कैसी हुई। पर अंदाज लगाना बेकार होता क्योंकि पासके पास कितनी जमीन थी, यह हम लोगों को ठीकठीक मालूम नहीं था।'[5] यानी छोटे शहरों और कस्बों में रहने वाला यह वग अपने लिए सुविधाओं और शक्ति के अनेक स्रोतों का इस्तेमाल करने का विशेषाधिकार रखता है। एक तरफ उस की जड़ें उस सामंती बाट बाट में हैं, जिसे भूसंपत्ति पर नियन्त्रण से प्राप्त किया जाता है, दूसरी तरफ डाक्टरी जैसे आधुनिक शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान से जुड़े व्यवसाय में विशेषज्ञता प्राप्त करके आधुनिक समाज में अपनी स्थिति को सुरक्षित कर लिया है। यानी दोनों हाथों में लड्डू। एक तरफ खेती, जमीन और बाग बगीचों पर मालिकाना हक होने का सामंती वैभव और दूसरी ओर आधुनिक व्यवसाय से प्राप्त धन और सामाजिक प्रतिष्ठा है।

मकान मालिक डाक्टर साहब के ही समानान्तर हैं संतू बाबू के दफ्तर के बड़े अफसर, जिन्हें उपन्यास में 'साहेब' के नाम से ही सम्बोधित किया गया है। यह डाक्टर और 'साहेब' दोनों के व्यवसाय अलग हैं, लेकिन दोनों की ठाठ-बाट, अकड़ और दंभ से भरी जीवन शैली दोनों की वर्गीय समानता का संकेत करती है। जीवन इससे संभव होता है कि व्यक्ति की कुछ मूल भूत जरूरतें पूरी होती रहें। लेकिन यह जिस अधिकार सम्पन्न और सुविधाभोगी वर्ग के हैं, उसमें जरूरत के अनुसार

जीवन जीना काफी नहीं समझा जाता, बल्कि शक्ति और सम्पन्नता को अभिव्यक्त करनेवाले एक आदर्श जीवन का रूप तय किया जाता है, फिर उसके हिसाब से अपने लिए नई नई जरूरतों को पैदा कर लिया जाता है । लेखक ने उपन्यास के एक प्रसंग में संतू बाबू के माध्यम से संपूर्ण जीवन शैली के कायल इस वर्ग के इस मनोवृत्ति के विषय में इस प्रकार लिखा है -'आश्चर्य था कि साहब को एक नौकर की ज़रूरत थी । नौकर की उन्हें कमी नहीं थी । पर बिना कमी के भी जरूरत होती रहती थी । जैसे बाई साहब के पास पचास साड़ियां हैं तो इसका मतलब है कि उनके पास पचपन साड़ियाँ नहीं हैं । नम्बर से जरूरत का हिसाब पूरा नहीं होता । नम्बर से ज़रूरत का हिसाब कम पड़ता है । एक अच्छी चीज़ भी जो होती है, वह किसी एक से बढ़ कर होती है और एक से बढ़कर एक चीज़ें खत्म नहीं होतीं । नौकर अच्छा हो तो वह क़ीमती हो जाता है । दूसरों को ईर्ष्या होती है कि वह मेरा नौकर नहीं है ।'[6] यानि कि एक ही वर्ग के लोगों के बीच आपस में गहरी प्रतिस्पर्धा है कि कौन समाज के गरीब और सामान्य व्यक्ति से अलग हट कर अधिक दिखावे की समृद्धि के साथ जी सकता है । कौन इस अपनी जीवन शैली से इस बात का अधिक प्रमाण दे सकता है कि उसने ऐश विलास, आराम और 'स्टेट्स' की चीजें दूसरों से अधिक जुटा ली हैं । या कौन अपने से नीचे के वर्ग के लोगों के प्रति संवेदनहीन और क्रूर होकर अपने वर्गीय दंभ को अधिक कुशलता से प्रकट कर लेता है ।

समाज की एक आम सच्चाई यह भी है कि हम जैसे जैसे निम्न से उच्च वर्ग की ओर बढ़ते हैं, हम पाते हैं कि व्यक्ति का उत्पादन और हाथ से किए गए श्रम के प्रति दृष्टिकोण अधिकाधिक अलोकतांत्रिक होता चला जाता है । मानसिक श्रम को हाथ से किए गए शारीरिक श्रम की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है । जो लोग समाज में शिक्षा, सम्पत्ति और पद की दृष्टि में शक्तिशाली समूह में आते हैं, वे शारीरिक श्रम को

काफी हेय दृष्टि से देखते हैं । उनकी निगाह में जो लोग आम समाज में असंगठित रूपसे केवल शारीरिक श्रम करने की अवस्था में हैं, उनसे अपनी आर्थिक शक्ति के सहारे एक गुलाम के रूप में काम कराया जा सकता है । स्वयं `नौकर की कमीज़` में भी डाक्टर के माली, महंगू, महंगू के लड़के, नौकर, बाजार में आने वाले मजूर-मजूरिनें और यहां तक कि संतू बाबू सभी उच्च वर्ग की इसी सनक और संवेदनहीनता की क्रूर आंच में झुलसते हुए अपना जीवन काटने की कोशिश करते रहते हैं । समाज के इस दम-घोंटू वातावरण में मानवीय होना नासमझी है और दूसरों के साथ अपने स्वार्थ के लिए अन्याय करना एक सर्वस्वीकृत समझदारी । इसी लिए उपन्यास में `साहेब` का नौकर महंगू `साहेब` और मालकिन की सेवा में खटते खटते पागल हो जाता है । पागल भी ऐसा जो अपने पागलपन में भी अपने गुलामी के संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता है और शरीर में पुरानी वर्दी के चिथड़े लपेटे दूसरों के घरों, चौराहों और सड़कों पर `राम-राम साहेब` करता घूमता रहता है । इस व्यवस्था के भुक्तभोगी अपने में उपन्यास के केन्द्रीय पात्र संतू बाबू भी बन जाते हैं । अकेले नहीं, बल्कि अपनी पत्नी के साथ । अलग-अलग घटनाएं अलग अलग ढंग से दोनों को अपने मालिकों यानी डाक्टरनी और `साहेब` की गुलामी स्वीकार करने के रास्ते पर ले जाती है ।

संतू बाबू की पत्नी डाक्टरनी के यहां इसलिए नियमित रूप से चावल पछोरने और खाना बनाने का काम करने लग जाती है क्योंकि डाक्टर मानता है कि संतू बाबू और उनकी पत्नी को उनका अहसान मंद होना चाहिए । वह कथित अहसान क्या है ? वह यह है कि संतू बाबू एक बार बीमारी की हालत में अर्द्धबेहोशी की हालत में पहुंच गए और डाक्टर ने उनसे कुछ पैसे लिए बिना दवा के इन्जेक्शन लगाकर उनका मुफ्त इलाज कर दिया । अब डाक्टर संतू बाबू चाहे माने या नहीं, लेकिन डाक्टर साहब यह अवश्य

मानते हैं कि उन्होंने उन पर अहसान किया है और उसका बदला उन्हें चुकाना चाहिए । इसलिए उनका चौकीदार अब बड़े हक से उनकी पत्नी को डाक्टरनी के घरेलू कामों में मदद करवाने के लिए बुलाने आ जाता है । यानी एक बार का अहसान और लम्बे समय तक दूसरों का निजी नौकर बनकर रहने की मजबूरी । अपने विरोध को छिपाकर परिस्थिति से समझौता करने का प्रयत्न किया जाता है, लेकिन समझौते भी हमेशा मदद नहीं करते । एक समस्या से भागने के लिए किया गया समझौता दूसरी जटिल समस्याओं को जन्म देता है । स्थिति जब असह्य हो जाती है, तब और उन से अपनी पत्नी का दूसरों के घर जाकर नौकर की तरह काम करना बर्दाश्त नहीं होता, तब वे झल्ला उठते हैं ।

'क्या हम लोग उनके नौकर हैं ?' चिल्लाकर मैंने कहा ।
उनकी पत्नी जवाब देती है, 'इसमें नौकर होने की कौन सी बात है ? हम लोग उनका काम करके, उनका किया अहसान तो उतार देते हैं ।'

'उनका अहसान हमेशा भारी होगा । काम करके अहसान उतारा जाता तो वे लोग कुली और मजदूरों तक के अहसानमंद हो गए होते ।'[7]

संतू बाबू के इस कथन में गहरा व्यंग्य भी है और चोट खाए स्वाभिमान की हताशा भी । लेकिन संतू बाबू भी इन परिस्थितियों की उस अमानवीयता से कहां मुक्त हैं, जिसमें लोगों के विद्रोह को उकसानेवाला सीधा अत्याचार नहीं किया, बल्कि सावधानी से छिपे हुए दबावों का सहारा लेकर, उनके श्रम का निजी स्वार्थों के लिए उपयोग किया जाता है । समाज के डाक्टर और दफ्तर के 'साहेब' जैसे लोगों के लिए दूसरों की संवेदनाओं की कोई अहमियत नहीं । संतू बाबू का अपराध केवल यह था कि वे अपने से बड़े 'साहेब' के आफिस में एक साधारण बाबू के छोटे से पद पर काम करते थे । इसलिए उन्हें यह चुनाव करने की छूट नहीं थी कि

उनका अपने `साहेब` से कैसा सम्बन्ध होगा । बल्कि यह निश्चित करने का अधिकार `साहेब` के हाथ में था कि वे अपनी किन जरूरतों के हिसाब से किस प्रकार से संतू बाबू जैसे लोगों का प्रयोग करेंगे । संतू बाबू उनकी दृष्टि में एक इन्सान नहीं, बल्कि उनकी आवश्यकताओं को संतुष्ट करनेवाले एक उपकरण हैं । इसीलिए `साहेब` को जब एक नौकर की जरूरत पड़ती है, तब वे आदर्श नौकर के सांचे के हिसाब से संतू बाबू को इसके लिए उपयुक्त पाते हैं और उन्हें अपने घर का निजी नौकर बना लेते हैं । उपन्यास में यह पूरी घटना कुछ दिलचस्प और साथ ही विडम्बनाबोधक व्यंग्य के माध्यम से सामने आती है । संतू बाबू जिस दफ्तर में काम करते हैं, उसके सबसे बड़े अधिकारी यानी `साहेब` का एक नौकर उनकी ज्यादती से तंग आ कर नौकरी छोड़ कर भाग जाता है । अब साहब के, दूसरे नौकर का होना अनिवार्य हो जाता है । लेकिन यह नौकर की जरूरतकहां से और क्यों पैदा होती है, इसे उपन्यासकार के हास्य पैदा करने वाले इन व्यंग्यात्मक शब्दों के माध्यम से देखिए --`एक अच्छा नौकर परिवार में नौकर की तरह शामिल रहता था । जैसे परिवार में कौन है ? तो, पति-पत्नी, दो लड़के, एक लड़की और एक नौकर । यह आदर्श परिवार था । साहब के बच्चे नहीं थे और एक अच्छा नौकर भी नहीं था । दोनों की कमी और दोनों का दुःख अलग अलग था ।`[8] लेकिन साहब के लिए नौकर की जरूरत होने का मतलब यह नहीं था कि किसी को भी नौकर रख लें। एक अच्छे नौकर की उनकी अपनी कसौटी है और जो इस कसौटी पर खरा उतरेगा, वह उनका नौकर हो जाएगा । यह कसौटी है नौकर की कमीज़ के रूप में । साहब के घर में जो नौकर पहले काम करता था, उसके लिए उन्होंने एक मोटे कपड़े की साफ सुथरी कमीज सिलवा दी थी । कांच का गिलास तोड़ने की लापरवाही और उंगली से बूंद बूंद टपकते खून से फर्श को गंदा करने के कारण साहब ने उसे डांटा और वह डर के मारे घर से भाग गया । लेकिन भागने के बाद अपनी वह कमीज छोड़ गया जिसे साहब ने उसके लिए सिलवाया था ।

साहब ने एक और नौकर रखा लेकिन वह भी अधिक दिनों तक नहीं टिका । अंतत: अपने दफ्तर के बाबुओं पर छोड़ दिया कि वे साहब के लिए एक नौकर की व्यवस्था कर दें । अब अगर साहब की कृपादृष्टि को जीतना है तो वह काम भी करना पड़ेगा, जिसका सरकारी कामकाज़ से नहीं, बल्कि साहब की निजी आराम परस्ती से सम्बन्ध है । दफ्तर में काम करने वाले बड़े बाबू चाय की दुकान के एक लड़के को संतू बाबू को साथ लेकर साहब के पास आते हैं । लेकिन चाय की कैंटीन का लड़का साहब को पसंद नहीं आता है और वह उसे डांट कर भगा देते हैं । लेकिन बड़े बाबू अपने साहब की खुशामद करने का कोई मौका नहीं छोड़ना चाहते । वे मज़ाक के बहाने संतू बाबू को साहब के नौकर की कमीज पहनने की बात कहते हैं । साहब को भी यह प्रस्ताव पसंद आ जाता है और वे बड़े बाबू और महंगू को संतू बाबू को वह कमीज़ पहनाने का हुक्म जारी कर देते हैं । संतू की सारी घबराहट और इन्कार के बावजूद उन की एक नहीं चलती । बड़े बाबू और महंगू संतू बाबू के सारे प्रतिरोध के बावजूद उन्हें जोर जबरदस्ती से वह कमीज़ पहना देते हैं । उपन्यासकार के शब्दों में 'नौकर की कमीज एक सांचा था, जिससे आदर्श नौकरों की पहचान होती थी ।'[9] और संतू बाबू इस सांचे में फिट मान लिए जाते हैं । एक बार जो सांचे में फिट बैठ गया, वह सांचे का होकर रह गया। उसका जीवन अब उसके हाथ में है, जिसने अपनी ज़रूरतों और मापदण्ड के अनुसार उस सांचे का निर्माण किया है । संतू बाबू जैसे ही कमीज़ पहन लेते हैं, उन्हें साहब के नौकर का दर्ज़ा प्राप्त हो जाता है । नौकर की इस कमीज़, उसके लिए उपयुक्त व्यक्ति की खोज और संतू बाबू को इसे पहनाया जाना, यह घटनाएं वह रूपक हैं, जिसमें समाज का यथार्थ संकेतित होता है । उस यथार्थ के सम्बन्ध समाज की व्यवस्था, मूल्य, विचार, अवधारणाओं और चिंतन इन सभी पदों के जटिल संरचनात्मक सम्बन्धों के आधार पर होता है ।

समाज के प्रभु वर्ग के पास अपनी सुविधा के अनुसार समाज के मूल्यों और मान्यताओं का पूरे समाज के लिए निर्माण करने और उसे परिभाषित करने की असीमित शक्ति होती है । जो वर्ग इस प्रभु वर्ग के अधीन होता है, वह स्वत: ही इस वर्ग के द्वारा निर्मित मूल्यों, माप-दण्डों और विचारों को आत्मसात करता चला जाता है । इस बात को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स की पुस्तक 'जर्मन आइडियालॉजी' की इन पंक्तियों को देख सकते हैं -

'सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं ; अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है । जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियन्त्रण रहता है। और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक उत्पादन के साधन नहीं होते, उनके विचार इस वर्ग के अधीन रहते जाते हैं ।'[10]

स्पष्ट है कि समाज में वही वर्ग हावी रहेगा जिसका लोगों के मूल्यों और मान्यताओं पर पूरा नियन्त्रण रहेगा । वह अपनी विभिन्न जरूरतों के लिए मानदण्ड तैयार करेगा जो उसे पूरा करेगा, उसे अपने हितों के लिए इस्तेमाल करेगा । कभी उनकी स्वेच्छा से, कभी बलपूर्वक । उपन्यास में नौकर की एक कमीज भी एक ऐसी कसौटी, एक सांचे का प्रतीक है । इसमें व्यक्ति बदले जा सकते, लेकिन सांचा या कसौटी नहीं, क्योंकि उनको साहब या सत्ताधारी वर्ग के हितों के अनुरूप निर्मित किया गया है । साहब की खुशी, सनक, स्वार्थ, प्रतिष्ठा और क्रूरता सभी की जरूरतों को ध्यान में रखकर इसका निर्माण किया गया है । इसलिए संतू की चाहे अनिच्छा हो या इच्छा, अगर एक बार वे इस सांचे में सही बैठ गए, तब उन्हें साहब की गुलामी करनी ही पड़ेगी । उन्हें यदि जीवन की तमाम दूसरी मुसीबतों को बचना है, तो उन्हें उस शक्ति की अधीनता स्वीकार करना ही होगा जिसे साहब जैसे लोगों ने समाज का सत्ताधारी वर्ग होने के कारण

प्राप्त की है । उपन्यास में नौकर की कमीज़ न केवल सत्ताधारी वर्ग के सेवकों की, बल्कि नौकरशाही की एक पूरी संस्कृति की भी प्रतीक है । समाज में नौकरशाही का भी अपना एक विशेष ढांचा होता है । इस ढाचे का अंग बनने के लिए व्यक्ति से कुछ पूर्वनिर्धारित शर्तों को पूरा करने की अपेक्षा की जाती है । समाज की उन धारणाओं और मूल्यों के प्रति समझ और सहमति को अनिवार्य बना दिया जाता है जो समाज में विषमता को न्यायसंगत बनाती है । सत्ताधारी वर्ग के प्रति आज्ञा-कारिता, अधीनता और बिना किसी विरोध भाव के प्रकट किए जाने वाली विनम्रता यह वह निजी व्यक्तिगत गुण है जो नौकरशाही की संस्कृति में अपरिहार्य समझे जाते हैं । साहब को संतू बाबू में यही गुण नज़र आते हैं और वे उन्हें अपनी नौकरशाही के ढांचे के अनुकूल अपने नौकर की कमीज़ पहना कर उन्हें अपनी आवश्यकताओं के लिए अपने आदेशों से निर्देशित करने का अधिकार हासिल कर लेते हैं ।

कमीज़ पहनाने की इस घटना के बाद उपन्यास की पूरी कथा आगे एक दिलचस्प विस्तार ग्रहण करती है । संतू बाबू इस घटना से अपने को काफी अपमानित महसूस करते हैं । इनका व्यक्तित्व अपने अधिकारों के लिए सचेत किसी नागरिक के रूप में भले न हो, लेकिन अपने आत्म-सम्मान के प्रति एक सहज स्वाभाविक चेतना अवश्य है । वे निश्चय करते हैं कि वे अपने को बलपूर्वक कमीज़ पहनाए जाने की बात का विरोध अवश्य करेंगे । लेकिन केवल विरोध का निश्चय कर लेने से ही व्यक्ति में विरोध का साहस नहीं आ जाता है । न चाहकर भी संतू बाबू बाकायदा एक घरेलू नौकर के समान साहब के घर के सदस्य बना ही लिए जाते हैं और बाई साहब की कार में बैठ कर साहब के लिए अनाज और सब्जियों इत्यादि की खरीददारी करने लग जाते हैं । उनका विरोध केवल बड़े बाबू की कमीज़ जबरन पहनाए जाने की हरकत पर गुस्सा प्रकट करने तक

सीमित रह जाता है । वे अपनी उस मजबूरी से वाकिफ़ हैं जिसमें अपने आत्मसम्मान को भूल कर सब कुछ सहने के लिए तैयार रहना पड़ता है । अगर वे साहब के निजी काम नहीं करेंगे, तो उन्हें दफ्तर से निकाला भी जा सकता है । और संतू बाबू के साथ ऐसा होता भी है । जब वे साहब के घर उनकी और बाई साहब की सेल के लिए उपस्थित नहीं होते हैं, तब उन्हें महंगू के हाथों दफ्तर में ठीक से काम न करने की चेतावनी मिल जाती है ।

इन सारे प्रसंगों के बावजूद जिसमें हुजूर सरकार की संस्कृति पर टिकी नौकरशाही के मानव विरोधी रूप के सामने संतू बाबू जैसे लोगों की असहायता प्रकट की गई हो, उपन्यासकार विनोदकुमार शुक्ल ने (उनके प्रति) अपनी सहानुभूति सम्पन्न दृष्टि से उनकी व्यक्तित्वसम्पन्नता को भी उभारा है । डाक्टर और साहब जैसे लोगों के द्वारा फैलाए गए शोषण के जाल के खिलाफ़ उपन्यास में किसी संगठित अथवा क्रांतिधर्मी आन्दोलन का कहीं कोई नामोनिशान नहीं । पराधीनता की इस व्यवस्था से मुक्ति दिलाने वाली किसी विचारधारा की भी चर्चा नहीं । लेकिन उपन्यास की कथा का यह सारा ताना-बाना जिस गहरे संकट की ओर इशारा करता है, उसमें उपन्यास की रचनात्मकता को नष्ट करने की कीमत पर ही कोई सरल क्रांतिधर्मी समाधान सुझाया जा सकता है । इस उपन्यास में महाकाव्यात्मकता के अनेक गुण हैं । उपन्यास की महाकाव्यात्मकता का प्रमाण यह भी है कि इसकी विषयवस्तु का कैनवस बड़ा है और पात्रों के सहज स्वाभाविक जीवन के अपने परिवेश और परिस्थितियों के साथ द्वंद का चित्रण करने में मनगढ़ंत कल्पनाओं के सहारे यथार्थ को गौण बना देने का प्रयास नहीं किया गया है । संतू बाबू जैसे पात्र अपनी परिचित और व्यवस्था के आगे केवल घुटने टेक देने की ही नहीं, बल्कि उससे लड़ने

की भी इच्छा रखते हैं । उपन्यास की महाकाव्यात्मकता का व्यक्ति के संघर्ष से किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसके विषय में ब्रिटेन के साहित्यकार और साहित्य समीक्षक सल्फ फॉक्स ने लिखा था - 'उपन्यास का विषय है व्यक्ति । वह समाज के विरुद्ध, प्रकृति के विरुद्ध व्यक्ति के संघर्ष का महाकाव्य है । और यह केवल उसी समाज में विकसित हो सकता है जिसमें व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन नष्ट हो चुका हो और जिसमें मानव का अपने सहजीवी साथियों अथवा प्रकृति से युद्ध ठना हो ।'[11]

उपन्यास के संतू बाबू भी व्यवस्था की निर्ममताओं के शिकार बनते हैं, लेकिन व्यक्ति के रूप में उससे संघर्ष भी करते हैं । उपन्यास के चौथे खण्ड में दफ्तर के अहाते के पेड़ से कटहल तोड़ने का मज़ाकिया प्रसंग अपने में संतू बाबू के दफ्तर, नौकरशाही और साहब के प्रति जताए गए विरोध की प्रतीकात्मकता को भी प्रकट करता है । दफ्तर के अहाते में जितने भी आम और कटहल इत्यादि के पेड़ हैं, उन्हें साहब की संपत्ति माना जाता है । सरकारी संसाधनों पर कैसे समाज के इस उच्चवर्गीय नौकर शाह साहब का भ्रष्ट अंकुश होता है, इसके प्रमाण उपन्यास में जगह जगह मौजूद हैं । दफ्तर का कर्मचारी महंगू और संतू बाबू दोनों साहब के दफ्तर के घरेलू नौकर बन जाते हैं, दफ्तर के अहाते के सारे आम और कटहल के पेड़ साहब की निजी संपत्ति में गिने जाते हैं । दफ्तर के किसी बाबू अथवा कर्मचारी में इतनी हिम्मत नहीं कि वे पेड़ से आम अथवा कटहल तोड़ ले । वह सब के सब किसी न किसी तरीके से साहब के घर पहुंचा दिए जाते हैं । उपन्यास में दफ्तर के साहब के विरुद्ध संतू बाबू का यह प्रतीकात्मक विद्रोह ही है कि वे सारी मनाही के बावजूद कटहल के पेड़ पर चढ़ने का फैसला ले लेते हैं । उपन्यास में यह सारी घटना हास्यजनक है । संतू बाबू इस घटना में एक बारगी एक सनकी पात्र

के रूप में दिखाई देने लग जाते हैं । ऐसे पात्र जो अपने शोषण और स्वाभिमान के आहत होने की बौखलाहट में तमाम तरीके से अपना नाटकीय विरोध प्रकट करने लग जाते हैं । संतू बाबू पेड़ पर चढ़ते हैं और उनके पैर से लगकर एक कटहल जमीन पर गिर जाता है । बाकी की घटना यह हैकि दफ्तर की निगाह में संतू बाबू एक विचित्र से सिरफिरे प्राणी के रूप में देखे जाने लगते हैं । उस टूटे हुए कटहल को लेकर जब वे बड़े बाबू और मालखाने के नाज़िर के पास जाते हैं तो वह भी साहब के आतंक के भय से उसे जमा करने से इन्कार कर देते हैं । उधर संतू बाबू भी अपनी ही हरकत से घबरा जाते हैं । वे पत्नी की सलाह पर कटहल को साहब के घर ले जाते हैं जहां उस कटहल से तो उन का पीछा छूट जाता है, लेकिन उसकी एवज में उन्हें साहब के बगीचे में माली के साथ घंटों धूप में घास उखाड़ने का काम करना पड़ता है । संतू बाबू को शायद अब अहसास होता है कि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए परिस्थितियों की गहराई में जाकर उनका कारण तलाशना अधिक जरूरी है । लेकिन साहब के बंगले में रह कर निजी काम करने पर संतू बाबू को दफ्तर के वातावरण में एक आत्मविश्वास भी प्राप्त होता है । वह हो भी क्यों न ? दफ्तरों की इस नौकरशाही के मौजूदा स्वरूप में सरकारी दायित्वों को निजी लगन, विश्वास और परिश्रम से करने को अधिक सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता । नौकरशाही की वर्तमान संस्था को तो पश्चिम से आयातित कर लिया गया लेकिन उसका पर्याप्त आधुनिकीकरण नहीं किया गया । भारतीय नौकरशाही को आज विकासमूलक नौकरशाही का दर्जा दिया गया है । लेकिन यथार्थ इसके ठीक विपरीत है । भारत की नौकरशाही की व्यवस्था को उस ब्रिटिश राज्य से विरासत में प्राप्त किया गया जिसमें इस व्यवस्था का गठन ब्रिटिश हितों को पूरा करने के लिए किया गया था । इस पूरी व्यवस्था में उन बड़े नौकरशाहों का प्रभुत्व कायम रहा

जिन्हें जनता पर शासन करने की आदत थी न कि सामाजिक हितों के अनुरूप इस नौकरशाही की व्यवस्था में गुणात्मक सुधार लाने की । नौकरशाही की व्यवस्था में सामाजिक लक्ष्य को निधारित करके कार्यों के श्रमविभाजन और संगठित प्रयत्नों के माध्यम से उन्हें प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्न किया जाता है । तर्क संगति और निर्वैयक्तिकता जैसे मूल्यों की इस व्यवस्था में प्रधानता होती है । जर्मन दार्शनिक मैक्सवेबर ने इस व्यवस्था का काफी विस्तार से अध्ययन किया । उसका यह निष्कर्ष था कि समाज में पूंजीवाद के विकास के साथ समाज में तर्क-संगत चेतना का भी व्यापक पैमाने पर विकास होता है । इसी निरंतर विकसित होती हुई तर्क संगत चेतना और मूल्यों को नौकरशाही के रूप में संस्थाबद्ध किया जाता है और इसका समाज में पूंजीवादी ढांचे के विशेष विकास के लिए इस्तेमाल किया जाता है । इस प्रकार उसकी दृष्टि में नौकरशाही समाज के आधुनिकीकरण का एक 'रेशनल टूल' (RATIONAL TOOL) है ।

लेकिन भारतीय समाज में पश्चिम से आयातित लोकतन्त्र, समाजवाद और समानता इत्यादि सिद्धान्तों का जो हाल हुआ, उससे ब्यूरोक्रेसी की दशा अलग नहीं थी । परम्परा से चले आते सामंती मूल्य इस समाज की छाती पर सर्प की तरह कुंडली मार कर बैठे हुए हैं । भारतीय संदर्भ में व्यक्तियों और कार्यों के तर्कसंगत सम्बन्धों की व्यवस्था के आधार पर बनी नौकरशाही में भी अनेक सामंती मूल्यों का प्रवेश हो गया । ये सामंती मूल्य कौन से हैं ? ये सामंती मूल्य थे विशाल संपत्ति एकत्र करके दूसरों को हीन समझना, लोकतंत्र और ब्यूरोक्रेसी के आधुनिक सिद्धान्तों के स्थान पर अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, अकड़ और रौबदाब को अधिक महत्व देना इत्यादि । समाज के एक विशेष वर्ग के प्रभुत्व को बढ़ानेवाली यह नौकरशाही की व्यवस्था सामाजिक विषमता को अपने निहित स्वार्थों के लिए बनाए रखने में विशेष प्रयत्नशील रहती है । क्योंकि उसे

पता है कि यदि यह विषमता समाज में कम होने लगी तब उसके वह तमाम विशेषाधिकार भी कम हो जाएंगे जो उसने समाज के दूसरे लोगों के अधिकारों की कीमत पर हासिल किए हैं । उपन्यास 'नौकर की कमीज़' में साहब अपनी पत्नी से बात करते हुए अपनी इसी मानसिकता को यों प्रकट करते हैं --'मैं अपनी कमीज़ नौकर को कभी देना नहीं चाहूंगा । जो मैं पहनता हूं, उसे नौकर पहने, यह मुझे पसन्द नहीं । मैं घर का बचा खुचा खाना भी नौकरों को देने का हिमायती नहीं हूं । जो स्वाद हमें मालूम है, उनको कभी नहीं मालूम होना चाहिए । अगर यह हुआ तो उनमें असंतोष फैलेगा । बाद में हम लोगों की तकलीफ़ बढ़ जाएगी । खाना उनको वैसा ही दो, जैसा वे खाते हैं । जैसा हम खाते हैं, वैसा बचा हुआ भी मत दो ।'[12]

अपने हितों और विशेषाधिकारों के सामाजिक सुरक्षा की यह चिंता इसी नौकरशाही के वर्ग को अधिकाधिक अपनी शक्ति से दूसरों के श्रम के शोषण पर निर्भर बना देती है । ऐसी ही व्यवस्था में जो अपने को इस शोषण के लिए प्रस्तुत कर देता है, वह कई बार अधिक लाभ भी प्राप्त कर लेता है । उपन्यास के संतू बाबू भी साहब के निजी नौकर की हैसियत प्राप्त करने के बाद अपने अन्दर जो परिवर्तन महसूस करते हैं, वह उपन्यासकार के शब्दों में यह है --'साहब के बंगले की घास उखाड़ने का काम करने से मैं यह महसूस कर रहा था कि मुझमें नाजिर, बड़े बाबू, बहुत से लोगों से सामना करने की असीम ताकत आ गई है । महंगू को डांटने की, जोर से बोलने की किसी को हिम्मत नहीं होती थी । बल्कि महंगू बहुत थके होने पर बाबू लोगों को झिड़क दिया करता था । बड़े बाबू की हैसियत छोटे-मोटे साहब से कम नहीं थी । मालखाने और तज़ारत से सम्बन्धित होने के कारण नाजिर की भी बहुत चलती थी । आज मैं फूला नहीं समा रहा था ।'[13]

व्यक्ति का मनोविज्ञान काफी जटिल होता है । किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास की पहचान इससे भी होती है कि वह व्यक्ति के सामाजिक परिवेश के चित्रण के साथ साथ उसके भाव जगत की दशाओं को भी सटीक प्रामाणिकता से अभिव्यक्त कर सके । कहना चाहिए कि 'नौकर की कमीज़' श्रेष्ठ साहित्य की उस कसौटी पर खरी उतरता है । उपन्यास में पात्रों के खास कर संतू बाबू जैसे पात्रों के मनोभावों को दिखाने के लिए किसी मनोवैज्ञानिक उपन्यास की गूढ़ और सूक्तिबद्ध भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है, लेकिन फिर भी संतू बाबू और उनके जैसे समस्याओं से उत्पीड़ित दूसरे पात्रों के संघर्ष, दुविधाएं और जीवन के छोटे-छोटे सुख सब उपन्यास के अनेक सार्थक प्रसंगों में झलक उठते हैं ।

संतू बाबू जिस गरीब निम्नमध्यवर्ग के व्यक्ति हैं, उसमें व्यक्ति जीवन में अनेक समझौते करके जीने के लिए विवश कर दिया जाता है । इसलिए चाह कर भी संतू बाबू अपने स्वाभिमान और अधिकारों के दमन के खिलाफ हमेशा विद्रोह नहीं कर पाते हैं । अगर उपन्यासकार ने शोषण के सामने पड़ते ही संतू बाबू को एक विद्रोही के रूप में प्रकट किया होता तो उससे उपन्यास में निश्चित ही मौलिकता आ गई होती । यह उपन्यासकार की रचनात्मक परिपक्वता का प्रमाण है कि वह संतू बाबू जैसे चरित्रों को उसी रूप में प्रकट कर सका है जैसे कि वे आम जनजीवन में मिलते हैं । किताबी आदर्श और मान्यताएं थोपने का लोभ नहीं दिखाया है ।

उपन्यास कथा में साहब के घर निजी नौकर बन कर रहने के बावजूद वे अपनी परिस्थितियों को बदलने के लिए अधिक कुछ भी नहीं कर पाते । वे विरोध का अगर निश्चय करते हैं तो उनका विरोध सांकेतिक

विरोध तक ही सीमित रह जाता है । उपन्यास में कटहल के पेड़ पर चढ़ने के प्रसंग के अलावा नौकर की कमीज का संतू बाबू, गौशाला बाबू और देवांगन बाबू द्वारा पहले फाड़े जाने और उपन्यास के अंतिम पृष्ठ में बड़े बाबू के साथ इन सारे साथियों का उस कमीज़ में आग लगाए जाने के प्रसंग मौजूद हैं । यह प्रसंग जैसे इस जरूरत को रेखांकित करता है कि गुलामी के सांचों को नष्ट कर देना चाहिए । जो समाज मानवीय समता के आदर्शों की खिल्ली उड़ानेवाले ऐसे सांचों के प्रति सहनशील है, वह समाज अपने स्वरूप विकास की संभावना को कमज़ोर करता है । संतू और उनके साथियों के तमाम आरंभिक संकोच और समझौते के बाद उनकी भावात्मक उत्तेजना चापलूसी और सहनशीलता के खिलाफ़ अपना सामूहिक विरोध व्यक्त करने का निर्णय ले लेती है । नाग बोड्स ने उपन्यास को `क्लाइमेक्स` जैसी दशा में पहुंचाने वाले इन रोचक और अर्थपूर्ण प्रसंगों केविषय में लिखा है -`संतू और उनके साथियों का विरोध दो हिस्सों में है । पहले वे लोग नौकर की कमीज़ फाड़ कर उसकी चिंदिया करते हैं । पर बड़े बाबू इन चिंदियों को इकट्ठा कर लेता है । आगे बड़े बाबू सहित सभी लोग अपना विरोध प्रगट करते हैं । मकान छोड़ने का तय करके संतू दूसरे मोर्चे पर भी विरोध करता है । असल में देखा जाए तो यह विरोध बड़े साहब या मकान मालिक से उतना नहीं है जितना कि इन दोनों के सामने खुद की झुकने की प्रवृत्ति से है । इस हिसाब से यह विरोध स्वयं को मजबूत बना लेने की घोषणा है । विरोध न होकर विरोध की तैयारी है ।`[14]

विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास की खूबी यह है कि उन्होंने किसी ऊपरी तंत्र अथवा स्पष्ट विचारधारात्मक आग्रह के बिना समाज की वर्ग-विषमता को अपने उपन्यास की थीम में स्पष्टता से व्यक्त किया है । उनकी इस मानवीय संवेदना में उनकी व्यंग्य चेतना के जुड़ जाने से उनकी अभि-व्यक्ति में अभी अधिक धार आ गई है । उपन्यास में उनकी सहानुभूति

समाज के किस वर्ग से इसका पता भी उनकी व्यंग्य चेतना से चलता है । उपन्यास में जगह जगह उन्होंने समाज के सम्पन्न उच्च वर्ग के ढोंग, दंभ और पाखण्ड का पर्दाफाश किया है । समाज का यह बड़े नौकरशाहों, पूंजीपतियों और व्यापारियों का वर्ग अपने चरित्र में भ्रष्ट और पाखंडी एक साथ होते हैं । एक तरफ यह आम जनता को लूट कर समृद्धि और धनसंपदा को एकत्र करता है, दूसरी ओर परोपकारी होने का स्वांग करता है । लेखक की पैनी दृष्टि ने समाज के इस हिस्से के वर्गीय पाखण्ड को देखा और उसका उपन्यास में उपहास उड़ाया है । अपने अनुभव प्रकट करते हुए उपन्यास के संतू बाबू कहते हैं --'बड़े बड़े बंगलों के सामने रास्ता चलती गायों को पानी पीने के लिए एक टांका बना था । गर्मियों में सेठ मारवाड़ियों के लड़के प्याऊ खोल कर बैठ जाते थे । रेलवे स्टेशन में यात्रियों को पानी पिला कर पसीना पोंछते हुए घर लौट जाते थे । दोनों हाथ हिलाते चलते थे, एक हाथ में बेईमानी और दूसरे हाथ से धर्म, सामाजिक और राजनैतिक कार्य इत्यादि ।'

फिर अगले ही पैराग्राफ में इसी पाखण्ड के विषय में लेखक यह बताता है, 'कृष्णा बैंक्स के बंगले के सामने प्रत्येक इतवार को पहले पच्चीस किलो चावल का भात बांटा जाता था । पच्चीस किलो चावल यानी पैंतीस रुपए का चावल । जब चावल महंगा होने लगा, तो चावल उतना ही बंटता जितना पैंतीस रुपए में आता । रुपए तय थे, चावल नहीं । खाते धर्म के नाम पर बस पैंतीस रुपए निकलते थे । ये रुपए तभी बढ़ते जब अनुपात में लाभ बढ़ता ।'[15]

लेकिन उपन्यास के इन सभी छोटे-छोटे प्रसंगों, नौकरशाही की संवेदनहीनता और संतू बाबू व उनके साथियों की व्यथा कथा दिखाने के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता है कि इस शोषण और विषमता का चित्रण ही उपन्यास की मूल विषय-वस्तु है । संतू बाबू के नौकर

की कमीज़ पहनने और अंतिम पृष्ठ में उसके जलाए जाने तक उपन्यास में अनेक घटनाएं हैं जिसका इससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । उपन्यास की सम्बद्धता किसी एक विषयवस्तु के स्थान पर एक पूरे परिवेश से अधिक है । इस परिवेश में हर वर्ग के वह तमाम छोटे बड़े पात्र हैं, जो किसी कस्बाई वातावरण वाले समाज में अपने जीवन और समाज से अलग-अलग प्रकार से जुड़े होते हैं । इस परिवेश में मूंगफली बेचने वाला महावीर, संतू बाबू और उनका परिवार, दफ्तर के अन्य बाबू, डाक्टर, डाक्टरनी, साहब और बाई साहब, महंगू, नौकर बाज़ार के मज़दूर, दुकान चलाने वाले गुप्ता जी, संतू बाबू के दोस्त संपत इत्यादि सभी मौजूद हैं ।

यह उपन्यास उस ठेठ कस्बाई माहौल के जीवन से जुड़ा हुआ है जिसमें आधुनिकता और पिछड़ापन, अमीरी-गरीबी और शिक्षा-अशिक्षा सब एक साथ मौजूद हैं । व्यक्तियों के जीवन के निजी घटना-क्रम हैं तो वर्ग विभाजन के बीच समाज के असंतुलित विकास के दुष्परिणाम भी व्यक्त हुए हैं । उपन्यास की बहुआयामी विषय-वस्तु को जिस ठेठ स्थानीयता से बांधा गया है, उसमें वह राष्ट्रीय सामाजिक घटनाएं कहीं भी उपन्यास को स्पर्श करती नहीं दिखाई देतीं, जो उपन्यास लिखे जाने के समय समाज में मौजूद थीं ।

यह उपन्यास 1979 में प्रकाशित हुआ । अस्सी के दशक का पूरा दौर देश में अनेक हलचलों और उथलपुथल से भरा हुआ था । नक्सलवाड़ी का किसान आन्दोलन भरपूर सरकारी दमन का सामना करने के बावजूद देश के अनेक भागों में चल रहा था । जयप्रकाश ने कांग्रेसी शासन और भ्रष्टाचार के खिलाफ एक बड़े जनान्दोलन को नेतृत्व दिया था और जनान्दोलन का परिणाम था कि आज़ादी के बाद पहली बार केन्द्र में

गैर-कांग्रेसी सरकार सत्ता में आई थी । भारतीय जनतन्त्र के इतिहास का एक काला अध्याय भी इसी दशक से जुड़ा हुआ है । 1971 में `गरीबी हटाओ` के नारे से सत्ता में आने वाली इंदिरा गांधी की सरकार ने 1975 तक आते-आते अपना जनविरोधी चेहरा पूरी तरह से बेनकाब कर दिया और देश पर आपातकाल के रूप में तानाशाही थोप दी । समाजवादी आवरण के नीचे जारी विशुद्ध पूंजीवादी नीतियों से समाज का संकट और गहराया । भारत जैसे सामंती समाज में परंपरागत असमानता तो बनी रही, लेकिन इन पूंजीवाद समर्थक नीतियों से एक भिन्न किस्म की एक और विषमता की विषबेल समाज में फैलने लगी । महंगाई, अवसरवाद और अस्थिरता ने आम आदमी के जीवन को और अधिक समस्याग्रस्त कर दिया।

उपन्यास के समकालीन समाज में जो परिस्थितियां थीं, उनकी कोई सीधी अभिव्यक्ति `नौकर की कमीज़` में कहीं नहीं है। लेकिन साहित्य से यह अपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिए कि उसमें सामाजिक राजनीतिक संदर्भों और घटनाओं का अविकल अनुवाद मौजूद रहेगा । एक परिप्रेक्ष्य अवश्य होता है जो उपन्यास जैसी विधा की विषयवस्तु को प्रभावित करता है । इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो उपन्यास `नौकर की कमीज़` में तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक घटनाएं भले ही कहीं न मिलें, लेकिन यह समूचा समकालीन परिप्रेक्ष्य अवश्य एक पृष्ठभूमि की तरह मौजूद है जिसका इस्तेमाल उपन्यास की कथा, अन्तर्वस्तु, पात्रों के गठन और घटनाओं में किया गया है । कहा तो यहां तक जा सकता है कि विनोदकुमार शुक्ल अगर किसी खास विषय वस्तु में बंधना न चाहें तो उन्हें समाज के विभिन्न इलाकों और संस्कृतियों को प्रकट करने में खास महारथ हासिल है । अपने दूसरे उपन्यास `खिलेगा तो देखेंगे ` (1996) में भी उन्होंने सरकार और शासक वर्ग के कुचक्रों और षडयंत्र के शिकार छत्तीसगढ़ के स्थानीय आदिवासी अंचल की विशेषताओं और दुःख दर्द को एक

संवेदनशील रचनाकार की सहानुभूति से उभारा है ।यह आदिवासी अंचल भारत के उन अनेक दुर्भाग्यग्रस्त इलाकों में एक है जहां विकास की परि-योजनाओं के नाम पर रेल और बस तो पहुंच गई है, लेकिन भूख, अकाल, बाढ़ और अशिक्षा की दुर्दान्त समस्याओं में कहीं कोई कमी नहीं आई है ।

'नौकर की कमीज़' में भी उपन्यासकार ने आज़ादी के तीस वर्षों बाद भी निम्न गरीब-मजदूर वर्ग की हालत को महज औपचारिकता से नहीं, बल्कि एक रचनाकार की मानवीय संवेदनशीलता के साथ उभारा है । किसी रचनाकार के जीवन के साथ जैसे सरोकार होते हैं, उससे अलग उसकी रचना नहीं होती । उपन्यासकार विनोदकुमार के भी जीवन के साथ सरोकार एक सहज साधारण आम संवेदनशील मनुष्य का है, इसलिए आम जनजीवन के दु:खदर्द, तकलीफ और संत्रास को सहज ही जान लेते हैं । वे जनतंत्र के उस छलावे को समझते हैं जिसमें कवि धूमिल के शब्दों में, "यहां एक ऐसा जनतन्त्र है / जिसमें जिंदा रहने के लिए / घोड़े और घास को एक जैसी छूट है ।" लेकिन उपन्यास अपने में किसी राजनैतिक बहसों पर आधारित विमर्श केन्द्रित उपन्यास नहीं है, इसलिए उसमें स्थितियों के चित्रण के माध्यम से उस व्यवस्था की विफलता की ओर संकेत किया है जिसमें इस देश की अधिकांश आबादी को अभाव हीन जीवन देने के दावे झूठे पड़ गए हैं । उपन्यास में कम से कम दो अध्यायों में मजदूरी करके कमाने वाले, नौकरानी, नौकर, बढ़ई, कारीगर और मिस्त्री जैसे निम्न वर्ग के लोगों के जीवन के दैन्य, भूख, अभाव और बेरोज़गारी जैसी समस्याओं को उठाया है । ग़रीबी के साथ मजबूरी का अनिवार्य सम्बन्ध होता है । जीवन के आर्थिक संकट केवल आर्थिक अभावों को जन्म नहीं देते बल्कि सम्मान, अधिकार और सुरक्षा का संकट भी जीवन में पैदा कर देते हैं । शहरी के स्थानीय छोटे-छोटे इलाकों में देहात से भाग कर आए

मज़दूरों की खपत के लिए नौकर बाज़ार देखने को मिलते हैं । यह 'नौकर बाज़ार' खरीददारों की सुविधा के लिए एक ही स्थान पर अच्छे-बुरे नौकर-मज़दूर उपलब्ध करा देते हैं । इस सम्बन्ध में उपन्यासकार लिखता है, किंचित व्यंग्य के भाव से 'सब्जियों की पहचान खरीददारों को उतनी अच्छी नहीं थी, जितनी मजदूरों की पहचान लोगों को थी । इनको हाथ से टटोलने की जरूरत नहीं पड़ती थी । एक नज़र में पचास लोगों के बीच यह काम का आदमी छांट लेते थे ।'[16]

सावधानी से रची गई व्यवस्था के भीतर शोषण, शराफत के खोल के अन्दर पशुता, सभ्यता के अन्दर छिपी क्रूरता, सफलता के पीछे मौजूद बेईमानी और सम्पन्नता की तह में मनुष्यता विरोधी चेतना, यही है इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते समाज का वह रूप जो उपन्यास के ऐसे ही प्रसंगों में जगह जगह झिलमिला उठता है । उपन्यास के ऐसे ही 'नौकर बाज़ार' के एक दूसरे प्रसंग में यह सफलतापूर्वक दिखाया है कि समाज में जब अकाल, महंगाई और बेरोज़गारी जैसे संकट बढ़ते हैं, तब कौन सा वर्ग उससे अधिक प्रभावित होता है ? जिस वर्ग के पास जीविका के स्रोत जितने ही अनिश्चित होते हैं, वह ऐसे संकटों के समय में उतनी ही अधिक असहाय होकर विपन्नता का भार ढोने के लिए अभिशप्त होता है । निम्न वर्ग के मजदूर अपने श्रम की कीमत लगाने की हैसियत भी नहीं रखते । उनके श्रम की कीमत वह लोग लगाते हैं जो उस श्रम को खरीदते हैं । जब समाज में अर्थ व्यवस्था के असंतुलित हो जाने से उसमें गिरावट आती है, तब उत्पादन और निर्माण से संबंधित कार्यों में मंदी आ जाती है जिससे श्रम की खपत भी कम हो जाती है । ऐसी अवस्था समाज में उपलब्ध मजदूरों के श्रम की कीमत में भी गिरावट आती है । इस प्रकार देहात से भाग कर शहर में आने वाले और पहले से शहर में मौजूद श्रमिकों

की संख्या भी और बढ़ जाती है जो श्रम की कीमत में और भी अधिक गिरावट को पैदा करती है । इस प्रकार मजदूरों श्रमिकों पर दुगुना बोझ पड़ता है । एक ओर महंगाई और बेरोजगारी के समय उनके श्रम की खपत कम हो जाने से उन्हें लाभ नहीं मिल पाता और दूसरी ओर उनके श्रम को भी औने पौने दाम पर खरीदा जाने लगता है ।

उपन्यास में नौकर बाजार की अवस्था के वर्णन में समाज में श्रम की इसी दुर्दशा को दिखाया है । उपन्यासकार ने दिखाया है कि बारिश न होने से कई चीजें चौगुनी कीमत की हो गई हैं और बचा खुचा चावल भी कालाबाजारी और मुनाफाखोरी की व्यवस्था के चलते बाजार से गायब हो चुका है । इन संकटों से अगर कोई अछूता है तो वे हैं समाज के डाक्टर और दफ्तर के साहब जैसे वर्ग के लोग । वरना तो इन संकटों ने समाज के निम्न मध्यवर्ग और श्रमिक वर्ग के जीवन को तबाह करना आरम्भ कर दिया । नौकर बाजार में काम की खोज में आए श्रमिकों की हालत के बारे में उपन्यासकार लिखता है, 'महंगाई के बढ़ते रेले के कारण लोगों की शिकायत करने की हिम्मत टूट गई थी । झुंड के झुंड देहाती शहर के भिन्न भिन्न हिस्सों से घुसते । उनके पास जो कुछ बचा होता, यानी बर्तन, कंबल, लड़कियां, इत्यादि शहर की सीमा में आते ही लोग दाम लगाकर खरीदने की फिराक में लग जाते । शहर के बीच तक पहुंचते-पहुंचते वे लोग कुछ बेच-बाच, कुछ लुटाकर छुटकारा पाते और जैसे तैसे जान बचाते हुए नौकर बाजार में अपने पूरे परिवार के साथ खड़े हो जाते ।'[17]

उपन्यास में मंगू, महावीर जैसे पात्रों की दीनहीन जीवन-दशा और 'नौकर बाजार' के जो वर्णन मिलते हैं, उससे उपन्यास में रचनाकार की सृजनशील दृष्टि की जनपक्षधरता भी स्पष्ट हो जाती है । उसकी पक्षधरता उस निम्नमध्यम वर्ग के लोगों और श्रमिक वर्ग के साथ है, जिसके

लिए इस जनविरोधी जनतन्त्र की व्यवस्था में नारकीय जीवन स्थितियों से उबरने के तमाम रास्ते बंद कर दिए गए हैं । 80 के दशक में, उपन्यास लिखे जाते समय इस वर्ग की जो दशा थी, उसमें आज तक यानी बीसवीं शताब्दी के आखिरी वर्ष तक कोई विशेष गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया है । आज हम केवल बीस फीसदी 'श्रेष्ठ जनता' को 21 वीं सदी में ले जाने की तैयारी कर रहे हैं और बाकी सामान्य जनता को बीसवीं में ही सड़ने या उन्नीसवीं में ढकेल देने का काम आज से वर्षों पहले शुरू किया गया था, वह आज भी बखूबी जारी है । वंचितों, मजदूरों और श्रमिकों की इस विशाल आबादी की मुनाफाखोरी की समाज व्यवस्था में क्या हालत है, इसका वर्णन उपन्यास की पंक्तियों में एक स्थान पर इस प्रकार है --'नौकरबाजार में भीड़ बढ़ जाने से मजूरी इतनी सस्ती हो गई थी कि एक बटकी पसि या पेज की रोजी में कोई भी काम के लिए तैयार हो जाता । बहुत से मोची, बढ़ई, खसरू मोची की तरह काम खोजने के बदले भीख मांगने लगे थे । पर अचानक भीख देने की संस्कृति का लोप हो गया था ।'[18]

नौकर बाजार के इन दृश्यों के अलावा उन शहरी झुग्गी झोंपड़ियों के भी दृश्य मौजूद हैं जिन्हें आज महानगरीय भाषा में 'स्लम्स' कहा जाता है । शहरों में मौजूद गरीबी, भुखमरी और गंदगी की समस्या की झलक इसके माध्यम से मिलती है । लेकिन इस सामान्य यथार्थ को असामान्यता की सीमा तक ले जा कर उसे संतू बाबू के भावोत्तेजना के माध्यम से नाटकीय रूप देने की जो कोशिश उपन्यासकार ने की है, वह इस पूरे प्रसंग को कमजोर भी बना देती है । लेखक का यह प्रयास उसकी एक सोची समझी योजना पर आधारित लगता है । वह यह है कि दफ्तर में काम करने वाले संतू बाबू के जीवन को इतना भी साधारण, सपाट और

इकरस मत दिखाया जाए कि उनका चरित्र एकदम इकहरा होकर पाठकों को बोर करने लग जाए । इसलिए कई बार समाज की गलत चीज़ों के प्रति उनके विरोध-भाव को दिखाने के लिए उनके मूडी चरित्र में सनक और दार्शनिक उत्तेजना की विशेषताओं को जोड़ दिया गया है । जीवन को तमाम समझौतों के साथ एक रूटीन क्रम में जीने की आदत रखनेवाले संतू बाबू का गुप्ता जी की दुकान में मिट्टी के तेल की कालाबाज़ारी देखकर अत्यधिक भावोत्तेजित हो जाना कुछ अस्वाभाविक सा लगता है । वे अपने ही समाज टिकापार की झुग्गी झोंपड़ियों के गरीबों को भी मिट्टी का तेल दिलाना चाहते हैं । इसलिए वहां पहुंच कर वे झोंपड़ियों में घुसते हैं, मिट्टी के तेल की सूचना देने के लिए, पुलिया पर किसी नेता के अंदाज में भाषण देने की भी कोशिश करते हैं जिसे लोगों को पता चल सके कि गुप्ता जी की दुकान में वह मिट्टी का तेल मौजूद है, जिसे जरूरत के समय खरीदा जाना चाहिए । संतू बाबू के इस सनकपन की सीमा को छूते जनहित के काम के बीच झोंपड़ियों के वातावरण और उसमें रहने वाले मजदूरों की जीवन दशा का चित्रण यह स्पष्ट करता है कि निम्नमध्यवर्गीय उपन्यासकार की समाज के इस वर्ग के जीवन के सम्बन्ध में एक अधूरी समझ है । इस पूरे प्रसंग झुग्गी-झोंपड़ियों का विद्रूप जीवन, उसमें रंगीन साड़ियां पहने औरतें और लड़कियों का गीत गाता हुआ झुंड, गेंद का फूल कान खोंसे किसी सुंदर सांवली लड़की के सामने संतू बाबू का झेंपना और अपनी बात समझा न पाने के कारण संतू बाबू की आंखों में आंसू आ जाना, इन सारे दृश्यों में नाटकीयता का असर अधिक है, परिवेशगत यथार्थ की मौजूदगी कम । उपन्यास के इस कमजोर रचना की आलोचना करते हुए नागबोडस लिखते हैं -"सामान्य के बीच असामान्य (या अति सामान्य) की खोज में लगे विनोद अपनी जमीन पर होते हैं और इसलिए सशक्त भी लगते हैं । परन्तु जहां वे सामान्य को छोड़ कर केवल असामान्य के पीछे भागते हैं, वहां कमज़ोर हो

जाते हैं । गुप्तजी से क्लेक में उधार मिट्टी का तेल ले जाने के बाद का संतू का व्यवहार एकदम असामान्य हो गया है और शायद उपन्यास का सबसे कमजोर हिस्सा यही है, बावजूद इसके कि यह साधनहीन श्रमिकों के बारे में मध्यवर्गीय समझ को रेखांकित करता है ।'[19]

इस प्रकार उपन्यास की थीम को केवल किसी निम्नमध्यवर्गीय क्लर्क की दिनचर्या मान लेना गलत होगा । इसलिए क्योंकि इसमें न केवल किसी निम्नमध्यवर्गीय जीवन के ब्यौरे हैं, बल्कि उच्च वर्ग के साहब लोगों, साधनहीन श्रमिकों और मजदूरों के जीवन के वह तमाम यथार्थ हैं, जिनके आपस में मिलने से किसी स्थानीय जीवन के समग्र सामाजिक वातावरण का निर्माण होता है । उच्च वर्गीय सम्पन्न वर्ग के दम्भी जीवन शैली और शोषण का अंत कहां है, यह उपन्यासकार कहीं नहीं बताता । लेकिन पूरा कस्बा जिन अभावों की गिरफ्त में है, उससे मुक्त होने की, छटपटाहट को जरूर रचनाकार ने सहानुभूति से उभारा है । अभावों से मुक्त होने की गहरी छटपटाहट के विषय में रवीन्द्र वर्मा ने 'नौकर की कमीज' की समीक्षा करते हुए लिखा -'इस उपन्यास की सार्थकता एक कस्बे के निम्न मध्यवर्गीय जीवन की अमानवीयता को गहराई से उकेर कर मुक्ति की आकांक्षा पैदा करने में है । और पूरा कस्बा ही मुक्ति के लिए छटपटा रहा है - इसमें हमेशा सलाम साहब करता हुआ पागल महंगू है, अपने ठेले के बाटों से कस्बे को तौलता हुआ महावीर मूंगफली वाला है, धसकते मैदान के बीच अकेला घर बनाए देवांगन बाबू हैं, अपनी मां को पीटता जीता हुआ सम्पत है, जो शायद कभी रेडियो मैकेनिक नहीं बन पाएगा - और इस कस्बे में वे गन्दी, अन्धेरी झोंपड़ियां तो हैं ही, जिन्हें मिट्टी के तेल की जरूरत नहीं है ।'[20]

संदर्भ

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ0 231
2. नौकर की कमीज़, पृ0 15
3. नौकर की कमीज़ को लेकर : पूर्वग्रह, मार्च 84, पृ0 204
4. मार्क्स एंगेल्स, साहित्य तथा कला, पृ0 122
5. नौकर की कमीज़, पृ0 87
6. वही, पृ0 121
7. वही, पृ0 202
8. वही, पृ0 122
9. वही, पृ0 133
10. मार्क्स एंगेल्स, साहित्य तथा कला, पृ0 10
11. रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोक जीवन, पृ0 133
12. नौकर की कमीज़, पृ0 124
13. वही, पृ0 186
14. नौकर की कमीज़ को लेकर, पूर्वग्रह, मार्च 84, पृ0 207
15. नौकर की कमीज, पृ0 203
16. वही, पृ0 155
17. वही, पृ0 220
18. वही, पृ0 221
19. नौकर की कमीज़ के बारे में : पूर्वग्रह, मार्च 84, पृ0 206
20. मुक्ति के लिए छटपटाहट : पूर्वग्रह, मार्च 84, पृ0 214

--

अध्याय - 3

'नौकर की कमीज़' में परिवार, स्त्री समस्याएं और अन्य पात्र

परिवार समाज की एक मूलभूत इकाई है । विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों में परिवार का विशेष महत्व है । न केवल बतौर एक संस्था के, बल्कि व्यक्ति के जीवन के हर पहलू को प्रभावित करने वाले यथार्थ के रूप में भी । इसमें व्यक्ति के लिए जीवित रहने का अर्थ है परिवार के लिए जीवित रहना और परिवार के साथ जीवित रहना । जैसा सीधा और साधारण चरित्र व्यक्ति का है, वैसा ही साधारण रूप उसके परिवार का है । जीवन के नित नए संघर्षों से जूझता, संघर्ष करता और सामाजिक दायित्वों को निबाहता परिवार । इसमें न व्यक्ति अकेला है और न अपनी स्वाधीनता के प्रति अतिरिक्त सचेत किसी स्वच्छंद इन्सान के रूप में । उपन्यासों में व्यक्ति परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से बन्धा हुआ है और जिम्मेदारियों के बंधन में ही अपनी सार्थकता को महसूस कर पाता है । नौकर की कमीज़ के संतू बाबू और उनकी पत्नी का परिवार `खिलेगा तो देखेंगे ` में मास्टर जी का अपने दो बच्चों और पत्नी से संगठित परिवार और तीसरे उपन्यास `दीवार में खिड़की रहती थी ` में रघुवर प्रसाद और पत्नी सोनसी का प्रेम, संवेगों से भरा आत्मसंतुष्टपरिवार है । इन सभी परिवारों में व्यक्ति समाज के प्रति अपने को जवाबदेह मानता है इसलिए परिवार की जिम्मेदारियों के प्रति भी उसमें एक सहज स्वीकृति का भाव मौजूद है । उसका चेहरा एक आम आदमी का चेहरा है और उसका परिवार समाज का एक आम परिवार ।

समाज में परिवार की संरचना की ऐतिहासिकता और उसका सैद्धांतिक आधार परिवार के वर्तमान स्वरूप को निर्धारित करने में अपना विशेष योगदान देते हैं । परिवार के सम्बन्ध में कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि सभ्यता से पूर्व और उसकी आरंभिक अवस्था में परिवार का एक

संस्था के रूप में या तो अस्तित्व ही नहीं था, या फिर वह मातृ-केन्द्रित था । यानी मानव जीवन की इस जंगली-बर्बर अवस्था में परिवार का कोई सुसंगठित रूप नहीं था । आदमी हमेशा अपनी जान जोखम में डाल कर जंगली पशुओं के शिकार में लगा रहता था और स्त्री किसी खास स्थान पर अपेक्षाकृत स्थायी रूप में रहकर बच्चों के पालन-पोषण का कार्य करती थी । स्व०एल०मार्गन, जे० जी० फ्रेजर और आर० ब्रिफाल्ट इस प्रकार का सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाले, प्रमुख समाजशास्त्री हैं । परिवार के किसी सुनिश्चित रूप अथवा नियमों के अभाव में स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्धों में भी एक स्वच्छंदतापूर्ण आचरण अपने स्वाभाविक रूप में मौजूद था ।

इन समाजशास्त्रियों के अलावा परिवार की संस्था के आरंभिक रूप, उसके विभिन्न चरणों में विकास और वर्तमान स्वरूप के विषय में मार्क्सवादियों ने भी अपनी विशेष प्रस्थापनाएं प्रकट कीं । लेकिन आगे चल कर । आरंभ में समाज के विश्लेषण में सामाजिक वर्गों को ही अपना प्रमुख आधार बनाने के कारण परिवार की संस्था की कोई व्यवस्थित व्याख्या नहीं हुई । यह मान लिया गया कि सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं - आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामंतवाद और पूंजीवाद में सामाजिक आर्थिक उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप समाज के `सुपर स्ट्रक्चर` के अंग परिवारों में भी बदलाव आते हैं । आरंभिक मार्क्सवादियों में केवल फ्रेडरिक एंगेल्स ने ही अपने लेखन में परिवार की उत्पत्ति और विकास की व्याख्या अपनी पुस्तक `द ओरिजिन ऑफ द फैमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड द स्टेट` में की है । एंगेल्स की यह पुस्तक वर्ष 1884 में प्रकाशित हुई । एंगेल्स ने भी परिवार के सम्बन्ध में अपने विकासवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए मार्क्सवादी सिद्धान्तों का उपयोग किया । उसके अनुसार आरंभ में उत्पादन के साधनों

पर पूरे मानव समुदाय का नियंत्रण था, इसलिए इस अवस्था में परिवार का समाज में एक संस्था के रूप में अस्तित्व नहीं था । इस आरंभिक अवस्था में मनुष्य स्वच्छंद यौनाचरण की अवस्था में था । मनुष्यों के परस्पर यौन सम्बन्धों पर समाज का किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था । ऐंगेल्स का मत है कि मानव सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में धीरे-धीरे यौन सम्बन्धों और संतानोंकी उत्पत्ति पर समाज का नियन्त्रण बढ़ता गया है । यह नियन्त्रण पारंपरिक बहुपतिविवाह से आधुनिक एकविवाही नाभिकीय परिवारों के विकास के रूप में प्रकट होता है । एंगेल्स ने आधुनिक नाभिकीय परिवार की उत्पत्ति के भी कारणों की चर्चा की है । उसके अनुसार व्यक्ति के अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार के प्रति सचेत होने के परिणामस्वरूप एकविवाही और नाभिकीय परिवारों का जन्म हुआ । आधुनिक राज्य की संस्था ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा और वैधता के साथ-साथ एकविवाह के सम्बन्ध में भी नए कानूनों का निर्माण किया । इससे स्त्रियों की `सेक्सुअलिटी` पर भी समाज का नियन्त्रण बढ़ा और अपनी वैध सन्तानों को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति उत्तराधिकार में प्रदान करने में भी व्यक्ति को सुविधा हासिल हुई ।

ऐंगेल्स के बाद आगे चल कर परिवार के सम्बन्ध में अनेक आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास हुआ । व्यक्ति और समाज पर पड़ने वाले परिवार के नकारात्मक प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण किया गया ।

मनोवैज्ञानिक डेविस कूपर ने अपनी पुस्तक `द डेथ आफ द फैमिली` में परिवार की एक संस्था के रूप में कठोर निन्दा की है । उसके अनुसार परिवार व्यक्ति की चेतना की स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है और वह शासक वर्ग की विचारधारा और मूल्यों के अनुरूप उसको परिवार की संस्था के अन्तर्गत ढाल लिया जाता है ।

भारतीय समाज मूलत: एक पितृसत्तात्मक समाज है अर्थात् ऐसा समाज जिसमें परिवार की स्थिति का निर्धारण और उसका संचालन स्त्रियों के द्वारा नहीं, बल्कि पुरुषों के द्वारा होता है । परिवार के आर्थिक स्रोतों पर नियन्त्रण होने के कारण परिवार से संबंधित सभी प्रमुख निर्णय लेने की शक्ति भी पुरुषों के हाथ में होती है । यानी एक परिवार की सीमा के अन्दर सम्पूर्ण स्थिति जो आभास कराती है, वह यह कि पुरुष परिवार का स्वामी है और स्त्री उसके घर की सेविका । स्त्री का कार्य क्षेत्र घरेलू कार्यों तक सीमित रह जाने के कारण वह परिवार के अन्दर पुरुष की तुलना में शक्तिहीन हो जाती है । परिवार की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता अपने हाथ में ले लेने के कारण पुरुष-स्त्री के जीवन और परिवार दोनों का स्वामी बन जाता है ।

उपरोक्त विचारों के आलोक में अगर विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों में परिवार के मौजूद यथार्थपरक चित्रों को देखें तो उसकी अनेक विशेषताओं को समझना अधिक सहज हो जाता है । विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों में जिन परिवारों का मुख्य रूप से वर्णन है, वे सभी निम्न मध्यवर्गीय परिवार हैं । 'नौकर की कमीज़' के संतू बाबूदफ्तर में बाबू की नौकरी करके अपना और अपनी पत्नी से संगठित परिवार का गुज़ारा चलाते हैं । उनके दूसरे उपन्यास के प्रमुख पात्र 'मास्टर जी' गांव की एक प्राथमरी पाठशाला के अध्यापक हैं और जीवन की दीनहीन हालत और तमाम अभावों के बीच, किसी प्रकार अपना, अपने दो बच्चों और पत्नी का पेट भरते हैं । विनोदकुमार शुक्ल के तीसरे उपन्यास के नायक रघुवर प्रसाद अपने शहर के पास सोरागांव में स्थित एक महाविद्यालय में गणित के प्राध्यापक हैं और आठ सौ रुपए महीना तनख्वाह पाते हैं । उनकी नई शादी हुई है और एक कमरे का मकान किराए पर लेकर रहते हैं ।

लेखक के अपने जीवन का सम्बन्ध जिस वर्ग से है, उसी वर्ग की जीवन-दृष्टि को अपनी रचनाओं में व्यक्त करे, ऐसा प्राय: होता है, अनिवार्यतया नहीं । लेकिन लेखक का सम्बन्ध जिस वर्ग से होता है, उस वर्ग के अनुभवों को वह अवश्य ही अपनी रचनाओं में प्रकट करता है । इसीलिए विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास पढ़ते हुए लगता है कि उसमें व्यक्त घटनाएं, पात्र और स्थितियां लेखक के अपने अनुभवों की उपज हैं । उस पर कल्पना और फैंटेसी की छाया तो है, जो कि हर साहित्य में रहती है, लेकिन उसकी मौजूदगी यथार्थ को ढांपती नहीं, बल्कि उसे अधिक मार्मिक और प्रभावशाली बना देती है ।

'नौकर की कमीज' में संतू बाबू का परिवार निम्नमध्यवर्गीय है, लेकिन उसका केवल आर्थिक पहलू ही प्रधान नहीं है । परिवार के अन्दर अनेक छोटे छोटे प्रसंग हैं जो उपन्यास को अधिक रोचक बना देते हैं । उपन्यास की शुरुआत ही अपने घर के विषय में संतू बाबू के इस प्रकार सोचने से होती है, 'यदि मैं किसी काम से बाहर जाऊं, जैसे पान खाने, तो यह घर से खास बाहर निकलना नहीं था, क्योंकि मुझे वापस लौट कर आना था । और इस बात की पूरी कोशिश करके कि काम पूरा हो, यानी पान खाकर। घर बाहर जाने के लिए उतना नहीं होता जितना लौटने के लिए होता है । बाहर जाने के लिए दूसरों के घर होते हैं, दूसरे यानी परिचित हो, या जिनसे काम हो ।'[1]

संतू बाबू के लिए घर के होने का अर्थ है एक सुरक्षित दुनिया का होना, जहां बगैर किसी औपचारिकता अथवा शिष्टाचार के दिखावे के एक आराम की जिंदगी जी जा सकती है । उनका घर किसी सीमेंट और कंक्रीट की संरचना भर ही नहीं, बल्कि एक परिवार की मौजूदगी, एक सम्पूर्ण जीवन का आभास करानेवाली एक वस्तुस्थिति है । इसलिए संतू बाबू अपने घर-परिवार के अनौपचारिक जीवन के सुखों का वर्णन इस प्रकार करते हैं -'घर में परिवार के रहने से बड़ा सुख था कि

कि धड़धड़ाते हुए अंदर जाकर चारपाई में लेट गए । या जोर की पेशाब लगी हो और बाहर आड़ वाली साफ जाह न मिली, तो घर के अंदर आते ही सीधे पेशाब करने के बाद फुरसत होती है ।`[2] अनौपचारिकता का जैसा सुख वैसा ही उसका अनौपचारिक वर्णन । विनोदकुमार शुक्ल के अन्य दोनों उपन्यासों `खिलेगा तो देखेंगे ` और `दीवार में एक खिड़की रहती थी` में घर परिवार के जीवन के प्रति एक सरस मोह का भाव दिखाई देता है । `खिलेगा तो देखेंगे ` में गुरुजी, उनकी पत्नी और बच्चे पहले पाठशाला को अपना घर समझ कर रहते हैं । लेकिन एक दिन जब आंधी तूफान से पाठशाला की छत हवा में उड़ जाती है, तब वे एक उजाड़ थाने के लाक अप में रहने के लिए आ जाते हैं । इस उजाड़ थाने का अपनी गृहस्थी परिवार के लिए अपना घर बनाया जाना इस पूरे उपन्यास की सबसे रोचक और यादगार घटना है । आरंभिक डर और संकोच के पश्चात् जब गुरु जी आश्वस्त हो जाते हैं कि उन्हें उनके नए घर से कोई नहीं निकालेगा, तब अपने आत्मविश्वास को वे फिर से प्राप्त कर लेते हैं । अब उस लाक अप में रहते हुए फिर से गुरु जी सोचते हैं, 'एक दरवाजे को बन्द कर हमने पूरे बाहर को बंद कर दिया । एक छोटे से कमरे में अला होकर स्वतन्त्र हैं । अपने कमरे का दरवाजा बंद कर हमने सारी दुनिया को बंद कर दिया है । सारी दुनिया हमारी कैद में है। अपने दरवाजे को खोल कर हम दुनिया के कमरे में जाते हैं ।`[3]

इसी प्रकार विनोद कुमार शुक्ल के तीसरे उपन्यास `दीवार में खिड़की रहती थी` में भी सारी घटनाओं, भावपूर्ण कल्पनाओं, आकांक्षाओं और कथा विस्तार के बीच कथानायक रघुवर प्रसाद का घर मौजूद है । रघुवर प्रसाद के इस घर के माध्यम से ही उपन्यासकार ने प्रकृति, प्रेम और फैंटेसी सभी को एक साथ प्रक्ट किया है । यह घर एक साथ यथार्थ और काल्पनिक मायालोक दोनों है । इस तीस रुपए महीना किराए वाले एक कमरे के घर के पीछे एक बिना सलाखों वाली खिड़की खुलती है ।

इस खिड़की के पार सुरम्य बाग, कल कल कर बहती स्वच्छ जल की छोटी नदी और तालाब, साफ़ चिकनी चट्टानें, गोबर से लिपी पगडंडियां, विभिन्न रंगों से सजी अल्पनाएं, चाय बनाने वाली नेकदिल बूढ़ी अम्मा और लाल मुंह वाला एक पालतू बंदर वह सभी कुछ उपस्थित है जो एक रोचक और अभिभूत कर देनेवाले, प्रेम क्षणों के लिए जरूरी समझे जाते हैं । उपन्यास में `घर` और उसके आसपास का यह रोमांटिक पर्यावरण एक समूचे निश्चिंत वातावरण का सृजन करते हैं ।

विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यासों में ही नहीं, बल्कि उनकी कविताओं में भी घर और परिवार के जीवन से जुड़े अनेक चित्र मिलते हैं । इन चित्रों में आत्मीयता, सुरक्षा, अनिश्चिंतता और अपरिचय हर प्रकार के रंग भरे हुए हैं । अपनी एक कविता में विनोदकुमार शुक्ल यह लिखते हैं --

घर संसार में घुसते ही
पहिचान बतानी होती है
उसकी आहट सुन
पत्नी बच्चे पूछेंगे `कौन ?`
`मैं हूं ` वह कहता है
तब दरवाजा खुलता है
घर उसका शिविर है
जहां घायल होकर वह लौटता है । [4]

घर में केवल सुरक्षा और उसके सुखों के उपयोग तक ही कवि की संवेदना का दायरा सीमित नहीं है । कौतूहल उसकी संवेदना की वह ताकत है, जिस से उसकी सर्जनशीलता भी एक नई प्रेरणा प्राप्त करती है । अपने घर के प्रति कौतूहल का यह भाव कवि से यह लिखवाता है -

दूर से अपना घर देखना चाहिए
मजबूरी में न लौट सकने वाली दूरी से अपना घर
कभी लौट सकेंगे की पूरी आशा में
सात समुंदर पार चले जाना चाहिए ।[5]

अन्य उपन्यासों और कविताओं में मौजूद विनोदकुमार शुक्ल की अपने घर के प्रति संवेदना अद्भुत ढंग से उनके प्रथम उपन्यास `नौकर की कमीज़` से जुड़ी हुई है । अपने घर के प्रति एक जाग्रत उत्सुकता भी और उसके परिवर्तनहीन सुरक्षित दायरे में एक शांत जीवन जीने की एक स्वाभाविक मानवीय लालसा थी । एक आम आदमी अपने परिवार के सुख समृद्धि में वृद्धि चाहता है और स्थायित्व भी । इस सहज स्वाभाविक मनोदशा को विनोदकुमार शुक्ल अपने पात्र संतू बाबू के माध्यम से यों अभिव्यक्त करते हैं -`मैं ज्यादा देर तक न तो घर से बाहर रह सकता था और न घर के अन्दर । फिर भी मेरी मन:स्थिति ऐसी थी जिसमें मैं अनंत काल तक घर लौटना नहीं चाहता था । पर जब भी लौटूं, पत्नी को उसी तरह भरी बाल्टी लिए हुए, मां को चावल पछोरते हुए पाना चाहता था । - यानी अनंत काल के बाद भी हर चीज़ को बिलकुल अभी जैसी - इस घर को, गिरे हुए गिलास को, पर खपरों में लगे मकड़ी के जालों को नहीं । चाहता था कि अनंत काल से लौटने के बाद दोनों खुश मिले । पत्नी की आंख के नीचे जो काले धब्बे हैं, वे न हों । घर की लिपाई पुताई हो जाए तो और भी अच्छा है ।`[6]

विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास `नौकर की कमीज़` में एक परिवार की सीमा में पति-पत्नी के परस्पर प्रेम को उजागर करने वाले अनेक छोटे-छोटे प्रेम-प्रसंग हैं । आम तौर पर हिन्दी उपन्यासों में पति-पत्नी के पारिवारिक जीवन को बोझिल और नीरस बना कर अधिक प्रस्तुत किया जाता है । यह धारणा अधिक सही समझी जाती है कि प्रेम का गहन

और भाव सम्पन्न चित्रण परिवार के बाहर प्रेमी प्रेमिका अथवा किसी अन्य प्रकार के सम्बन्धों के माध्यम से अधिक स्वाभाविक रूपसे किया जा सकता है । प्रेम के रोमांच, उत्तेजना और भावोद्वेलन को यदि अभिव्यक्त करना है तो उसके लिए पति-पत्नी के सम्बन्धों को पूरी तरह अनुपयुक्त मान लिया जाता है । प्रेमचंद की रचनाओं को यदि अपवाद मान लिया जाए तो अन्य सभी बड़े रचनाकारों के यहां प्राय: पारिवारिक जीवन की सीमाओं में प्रेम की अभिव्यक्ति को रचनाओं की विषयवस्तु नहीं बनाया गया है। भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, मनोहर-श्याम जोशी और मनोहर श्याम जोशी इत्यादि सभी बड़े उपन्यास-कारों के यहां प्रेम की परिकल्पना और प्रसंग प्राय: प्रेमी-प्रेमिका, अविवाहितों, क्रांतिकारियों अथवा परस्पर अपरिचित स्त्री-पुरुषों तक सीमित है । भारत के सामंती परिवेश में पारिवारिक जीवन इतना इकहरा, बासी और समझौतों से भरा होता है कि वहां रचनाकारों को जिम्मेदारियों और मजबूरी तो दिखाई दे जाती है, प्रेम की संभावना नहीं । इसलिए कुल मिलाकर जो सामान्य सोच बनती है, वह यह कि प्रेम परिवार के बाहर ही होता है और परिवार में रहकर दायित्वों का निर्वाह किया जाता है । लेकिन विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास प्रेम के सम्बन्ध में इस पारंपरिक दृष्टिकोण से बड़े सुखद ढंग से मुक्त हैं । उनके यहां परिवार में पति पत्नी के बीच जैसे संवेदनशील सम्बन्ध और प्रेम प्रसंग हैं, वह प्राय: हिन्दी कथा जगत की वर्तमान दशा को देखते हुए दुर्लभ कहे जा सकते हैं । उनमें कहीं किसी कुंठा अथवा आत्मदया का भाव भी नहीं कि वे निम्नमध्यवर्गीय परिवार के एक अपेक्षाकृत ठहरे हुए और रोजमर्रा के क्रम से बन्धे हुए जीवन के बीच अपने उपन्यास के लिए प्रेम, अनुभूति और कौतुक को तलाश रहे हैं । बल्कि यह करते हुए उनमें जैसे बाल सुलभ उत्साह और समर्पण है, वह आश्चर्य में डाल देता है ।

उपन्यास 'नौकर की कमीज़' के एक स्थल पर जबकि संतू बाबू का पूरा घर बरसात के कारण टपक रहा है, उसका प्रसंग है -

'जब वह चारपाई पर आकर लेटी तो सरक कर मैंने उसके लिए थोड़ी और जगह बना ली ।

'अच्छा हुआ जो हम दोनों पति-पत्नी हैं ।' मैंने फिर कहा ।

'तुमको अड़चन तो नहीं हो रही है ?' उसने पूछा ।

'चारपाई छोटी है तो क्या हुआ । चारपाई में तुम्हारे लिए जो जगह है, दिल में जो जगह दोनों को मिलाकर कितनी सारी जगह हो गई ।' उसे जोर से हाथों में बांध कर कसते हुए मैंने कहा ।'[7]

इसी प्रकार के अन्य हल्के-फुल्के छोटे छोटे प्रसंगों से यह उपन्यासभरा हुआ है । इनमें जीवन की चुनौतियां पति पत्नी के सम्बन्धों में तनाव को नहीं जन्म देतीं, बल्कि उनके आपसी सम्बन्धों की समझदारी को और अधिक गहरा बनाती है । प्रेम की एक विशेषता यह होती है कि अगर उसे सहज रूप में लिया जाए, तब वह अमर होता है, लेकिन यदि उस पर अधिक अपेक्षाओं का बोझ लाद दिया जाए, तब वह क्षण भंगुर होकर टूटता है और बिखर जाता है । 'नौकर की कमीज़' में संतू बाबू और उनकी पत्नी का प्रेम किन्हीं अतिरिक्त अपेक्षाओं के दबाव और खींचतान से मुक्त है इसलिए सहज भी है और स्थायी भी । जीवन की ऊपरी सतह पर जो एकरसता है, उसके भीतर प्रेम और संवेदना की आंतरिक भाव-धारा के निश्छल प्रवाह का आभास मिलता है ।

संतू बाबू और उनकी पत्नी के जीवन में अभी उनके किसी बच्चे का प्रवेश नहीं हुआ, यद्यपि उपन्यास के अंत में पत्नी को अभंवती हो जाते हुए दिखाया गया है । इससे लेखक के लिए संतू बाबू के परिवार में

किसी अन्य पर दृष्टि को टिकाए बिना प्रेम के उन गहन और निजी क्षणों को व्यक्त करना कथा और अंतर्वस्तु की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक हो गया, जिन्हें विवाह के शुरुआती दिनों - महीनों में पति और पत्नी एक दूसरे से प्राप्त करते हैं ।

उनके दूसरे उपन्यास `खिलेगा तो देखेंगे ` में परिवार में केवल पति-पत्नी ही नहीं, बल्कि उनके दो बच्चे एक लड़का और लड़की भी शामिल है, इसलिए वहां गुरु जी और उनकी पत्नी के बीच के प्रेम के गहन क्षण कम और परिवेश व परिवार के सामने मौजूद चुनौतियां, द्वंद और स्वप्न अधिक हैं । लेकिन तीसरे उपन्यास `दीवार में खिड़की रहती थी` को तो एक प्रकार से प्रेम-प्रधान उपन्यास ही कहा जा सकता है । इसमें भी `नौकर की कमीज़` के संतू बाबू की तरह कथानायक, रघुवर प्रसाद का जल्दी ही विवाह हुआ है और बिना किसी अश्लील वासना को जगाए उनके सम्बन्धों को रोमांटिक स्वरूप को व्यक्त करने में लेखक ने जैसी कामयाबी पाई है, वह अपने में सर्वथा मौलिक और स्मरणीय है । नौकर की कमीज` में संतू बाबू का अपनी पत्नी से रागमय सम्बन्ध घर की चारदीवारी तक सीमित रह गया । उपन्यास में एक बार भी वे एक साथ घर से बाहर नहीं जाते । एक स्थान पर वे दोनों साथ घर से निकल साथ बाज़ार तक जाने का निश्चय करते दिखाए गए हैं, लेकिन वहां पर भी वे अन्ततः अपने इस निश्चय को पूरा नहीं कर पाते । इस लिए क्योंकि अगर वे घर से बाहर जाने के लिए साथ निकलेंगे तो घर में ताला लगाना पड़ेगा और उनके पास कोई मजबूत ताला नहीं है । सो वे अपनी जमा पूंजी से पहले एक ताला खरीदते हैं, जिससे कभी भविष्य में वे घर सेबाहर साथ घूमने जा सकें । ऐसी स्थिति में घर की सीमित परिधि में ही संतू बाबू और उनकी पत्नी आपस में परिचय, प्रेम और अंतरंगता को प्राप्त कर पाते हैं । बाहर की दुनिया का न तो उसमें हस्तक्षेप है

और न वह बाधक है । लेकिन `दीवार में खिड़की रहती थी` में तो मानो प्रकृति अपने समूचे आदिम सौन्दर्य के साथ, एक जीवन्त पृष्ठभूमि के रूप में, रघुवर प्रसाद और पत्नी सोनसी के आसपास उपस्थित है । उनकी आपसी अंतरंगता भी पति-पत्नी के सम्बन्धों की उपज है, लेकिन एक सुरम्य प्राकृतिक छटा से घिरे होने के कारण अपने समूचे प्रभाव में अधिक रोमांटिक हो गई है । `नौकर की कमीज़` में संतू बाबू और उनकी पत्नी सोनसी के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में रचनाकार की कल्पना का कैसा स्निग्ध आलोक नहीं मौजूद है, जिसका रघुवर प्रसाद और सोनसी की भावात्मक समीपता के क्षणों को उभारने के लिए रचनाकार द्वारा प्रयोग किया गया है । आम जामुन के हरे पेड़ों के बाग में घूमना, कपड़े उतार कर चांदनी के आलोक में तालाब में नहाना, कमल के फूल तोड़ना, बाग में झरे हुए आम, केसरवा कान्दा और तेंगु के फल बीनना, कुम्हार मिट्टी से बनी रंगोली में खेलना, दशहरे के दिन छिपे नीलकंठ को देखने के लिए कल्पना के पंखों से उड़ कर बादलों के बीच पहुंच जाना, ऐसा लगता है जैसे यह सारे प्रसंग कोई देखा गया स्वप्न हैं, जिसमें रघुवर प्रसाद और उनकी पत्नी सोनसी का प्रेम किसी निर्मल बौछार की तरह बरस रहा है ।

प्रेम भावनाओं के चित्रण के साथ-साथ उन संघर्षों और यातनाओं का भी `नौकर की कमीज़` में वर्णन है, जिसका सामना भारत के लगभग सभी औसत मध्यवर्गीय परिवारों को करना पड़ता है । पर असल विवाह और निजी परिवार है ही, ऐसी संस्था जिसमें एक बार प्रवेश करने के बाद व्यक्ति को समाज से अपने सम्बन्धों को पुनर्परिभाषित और पुनर्रचित करना पड़ता है । समाज में नई भूमिकाएं ग्रहण करनी पड़ती हैं और परिवार व समाज के मूल्यों, दायित्वों और अपेक्षाओं के प्रति अपनी जिम्मेदारी को समझना पड़ता है । किसी विशेष समाज, समुदाय अथवा वर्ग की संस्कृति का भावी पीढ़ियों तक संचरण भी परिवार की संस्था के माध्यम से होता है । परिवार ही वह जगह है जिसमें बच्चे के जन्म लेने से

सामाजिक प्राणी बनने और विवाहित होने से लेकर मर जाने तक की जीवन यात्रा पूरी होती है । व्यक्ति एक बार जब विवाह करके अपने परिवार की स्थापना करता है, तब उसे अनेक दायित्वों के निर्वाह की कीमत पर कुछ नए अधिकार भी प्राप्त होते हैं । जैसी आर्थिक स्थिति और वर्ग होता है, वैसी ही समस्याएं उसे अपने परिवार को बनाने और चलाने में भुगतनी पड़ती हैं । अब उपन्यास 'नौकर की कमीज' में संतू बाबू के अपने घर को लिया जाए । जैसा उनके घर का वर्णन है, उससे लगता है जैसे उनकी समस्याएं अनंत हैं । उनकी पत्नी को घंटों पानी भरने के लिए लाइन में रहना पड़ता है । बरसात में मकान से पानी टपकता है और मकान मालिक उनकी शिकायत सुनने को तैयार नहीं । बाजार से सब्जी महंगी है, इसलिए कभी कभार ही खरीद सकते हैं । दुकान में उधारी सामान लेते हैं और कभी उधारी नहीं चुका पाते, इस लिए उन्हें हमेशा लगता है -'चूंकि मैं गुप्ता जी की दुकान से उधारी सामान लाता था, इसलिए उनका देखना मुझे घूरने जैसा लगता था ।'[8] संतू बाबू के लिए जिंदगी को जीने का अर्थ है इन समस्याओं से इस आशा के सहारे लड़ना कि एक दिन वह इन्हें जीत सकेंगे । उनके लिए जिम्मेदार आदमी होने का अर्थ यह भी है कि अपने परिवार पर आए उन संकटों से निरन्तर जूझना जिनके अंत को वे बेहतर जीवन के लिए अनिवार्य समझते हैं । अपनी इन उम्मीदों और आकांक्षाओं को झूठा समझने का मतलब है जीवन से निराश हो जाना । इसलिए संतू बाबू का यह चरम आशा-वाद सचमुच स्पृहणीय है कि बतौर क्लर्क के प्राप्त होने वाली सामाजिक स्थिति के बावजूद वे अपने प्रतिरोध और प्रयत्नों से अपने परिवार को उसके वांछित सुख दिला सकेंगे । अपनी संदेह-शक्ति से वे उन परिस्थितियों को पहचानने के लिए भी सचेत हैं जिन्हें वे अपने और परिवार के खिलाफ षडयंत्र का जाल बुनते हुए पाते हैं । इसी संदेहाकुल मन:स्थिति से संतू बाबू सोचते हैं -'मैं बहुत शकी हो गया था । मुझमें यह शक घर कर गया था

कि दूसरों के द्वारा मेरे परिवार का उपयोग स्वार्थ से किया जा रहा है । यह वहम् बढ़ता जा रहा था कि मेरा दुरुपयोग हो रहा है । हर वह आदमी जो अच्छा व्यवहार करता है, तब सोचता हूं कि इसका कोई बड़ा स्वार्थ है, बेवकूफ बना रहा है । अच्छा व्यवहार और सहायता के लिए तत्पर होना, यानी आदमी को उस रेंज पर लाना है जहां से उस पर अचूक निशाना लगाया जा सके ।[9]

संतू बाबू के परिवार की अनंत सी दिखने वाली कठिनाइयों का हल शायद स्वयं संतू बाबू के पास नहीं, लेकिन लेखक के पास है । उपन्यास में सुखान्त रचने के प्रयत्न में उसने दिखाया है कि उनका परिवार और वे जीवन के जिन संकटों का सामना कर रहे हैं, उससे वे मुक्त हो सकेंगे । संतू बाबू का गुलामी के सांचे की प्रतीक नौकर की कमीज फाड़कर विरोध की तैयारी करना, उनकी पत्नी का फिर मकान मालिक डाक्टर के घर न जाने का संकल्प करना और संतू बाबू द्वारा अपना मकान छोड़ कर कहीं अन्यत्र चले जाने का निश्चय करना, यह सब जरूरी समझ कर उठाए गए वे कदम हैं जिनके सहारे संतू बाबू का परिवार शोषण, षडयंत्र और तकलीफों के जाल को काट कर अपनी परिस्थितियों को बदल देना चाहते हैं । इन परिस्थितियों से जूझते हुए उनका आहत मन जैसे गालिब के इस शेर की तरह पुकार उठता है -

मेरी किस्मत में गम गर इतना था
दिल भी, या रब, कई दिए होते ।

लेकिन उपन्यास के लेखक द्वारा सुखान्त रचने का यह असफल प्रयत्न उपन्यास के अन्त को कमजोर कर देता है । आखिर संतू बाबू और उनकी पत्नी भाग कर जाएंगे कहां । दूसरी जगह जाएंगे तो वहां भी केवल शोषकों

और मक्कारों के चेहरे बदल जाएंगे, शोषण से वे फिर भी नहीं मुक्त हो सकेंगे । कमीज़ फाड़ने जैसा प्रतीकात्मक विरोध प्रकट कर के भी वे दफ्तर के `साहब` के भ्रष्ट स्वार्थों से पीछा नहीं छुड़ा सकेंगे और मकान बदल कर वे जहां भी जाएंगे, वहां मकान मालिक अपनी जरूरतों के हिसाब से उनके परिवार का दुरुपयोग न करे ऐसा आवश्यक अथवा निश्चित नहीं । उनके संकट की जड़ें तो उनकी आर्थिक स्थिति में हैं, जिसे तत्काल बदल सकना उनके वश में नहीं । इसीलिए उनके परिवार के बाहर की वह तमाम शक्तियां उनके परिवार में हस्तक्षेप करती हैं, जिन पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं है ।

उपन्यास के इस अन्त को कमजोर कर देने वाले उपन्यास के इस सुखान्त का `जस्टीफिकेशन` केवल एक आधार पर दिया जा सकता है । वह यह कि संतू बाबू और उनके परिवार की जैसी दशा वाले चरित्र तमाम चुनौतियों से जूझने के बाद उनसे पलायन में ही उनका समाधान ढूंढने के लिए अभिशप्त होते हैं ।'उनका प्रशिक्षण ही इस प्रकार से होता है कि व्यवस्था के द्वारा सताए जाने के बावजूद व्यवस्था के अपने आंतरिक नियमों से असहमत न हो सके । किसी क्रांतिकारी, साहसी अथवा शिक्षित बुद्धिजीवी की तरह शोषण की परिस्थितियों और कारणों को पहचान कर उनसे सीधी टक्कर लेने का जनवादी विकल्प भी उन्हें उपलब्ध नहीं होता है । इसलिए सामाजिक अवस्था और व्यवस्था को शाश्वत मान कर उसके नियमों के अनुसार ही उन्हें जीना पड़ता है । जब ये वैध-अवैध नियम असहनीय हो जाते हैं, तब व्यवस्था के उसी `स्ट्रक्चर` यानी नौकरशाही, श्रेणी तन्त्र और वर्ग की घेरा बंदी के बीच रहकर उससे बचने के तमाम अस्थायी और असफल प्रयास करते हैं । इन तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि जीवन की इस बुनियादी असलियत को ध्यान में रख कर ही लेखक ने उपन्यास का इस प्रकार से अन्त किया है । यह अन्त इस आशा के

साथ है कि संतू बाबू के परिवार पर जिन अस्वीकार्य और असहनीय स्थितियों का अंकुश है, वह समाप्त हो जाएगा । लेकिन किसी भी उपन्यास का अंत क्या किसी रेखागणित के थ्योरम की तरह होता है जिसका अन्त `यही सिद्ध करना था` लिख कर किया जाता है । नौकर की कमीज का अंत भी कुछ इसी प्रकार से होता है। उपन्यास के सशक्त कथानक गद्य में बुने गए तमाम प्रसंग, संतू बाबू के परिवार की हल्की-फुल्की घटनाएं, उसका शोषण, कमीज फाड़ने का प्रतीकात्मक प्रतिरोध और अन्त में हर समस्या के समाधान तक पहुंचने का आशावाद । यानी गणित की थ्योरम की तरह अंत जिसमें आरंभिक उलझनों और कठिनाइयों के बाद एक हल तलाश ही लिया जाता है ।

`नौकर की कमीज` में संतू बाबू के परिवार के अलावा कुछ अन्य पात्रों के परिवार की भी हल्की सी झलक उपन्यास में मौजूद है । यह है डाक्टर साहब का परिवार और `साहब` का परिवार । डाक्टर साहब के सम्पन्न परिवार में उनका एक भतीजा, विधवा बहन, उनकी पत्नी और वे स्वयं मौजूद हैं । विधवा बहन को उन्होंने एक प्रकार से शरण दी हुई है और उसके बदले उन्हें दिन भर घर में साफ़-सफाई, चावल पछोरना और खाना बनाने जैसा काम करना पड़ता है । डाक्टर की पत्नी डाक्टरनी बाई व्यस्त नहीं रहती थी और बंगले से बहुत कम बाहर निकलती थी । उपन्यासकार के शब्दों में, `वे हमेशा मोटे मोटे गहनों से लदी रहती थी ।` प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने सम्पन्न श्रेणी की इन स्त्रियों के विषय में लिखा है -`दे आर मोर आरनामेंटल दैन यूज़फुल ` । इसी प्रकार साहब के परिवार में और कोई नहीं केवल उनकी पत्नी है जो घर के काम की देखरेख भी करती हैं और अपने व्यक्तित्व की सजधज से साहब की सम्पन्नता की भी प्रतीक हैं । उपन्यास में यह

साधन-सम्पन्न श्रेणी की स्त्रियां हैं, लेकिन स्वयं अपने जीवन पर इनका स्वतन्त्र अधिकार नहीं । अपने पति के रूप में पुरुषों का मोहताज रहना इनकी नियति है ।

उपन्यास में इन परिवारों और दूसरे वर्णनों के माध्यम से समाज में स्त्रियों के सामंती जकड़न में फंसे होने के भी अनेक यथार्थपरक चित्र मौजूद हैं । चाहे व्यवस्था सामन्ती हो अथवा पूंजीवादी, स्त्री के जीवन को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने और उसे पूरी तरह से पुरुषों पर निर्भर बना देने की सामान्य प्रवृत्ति हर जगह मिलती है । स्त्री को व्यक्तिगत सम्पत्ति मानकर उसकी इसलिए भी पराधीन बनाया जाता है, जिससे कि जिस परिवार और समाज पर पुरुषों का वर्चस्व है, वह तहस नहस न हो पाए । समाज की परंपराएं, शिक्षा, धर्म, रीति रिवाज, सभी स्त्रियों को पराधीन बनाए रखने का उपक्रम करते हैं । मां के गर्भ में आने से लेकर स्वयं मां बनने तक, हर जगह स्त्री को अपने अस्तित्व की अस्वीकृति का सामना करना पड़ता है । ब्रिटिश दार्शनिक जे. एस. मिल का तो मानना था कि परिवार ही एकमात्र ऐसी जगह बची है जहां अभी भी स्त्रियों के रूप में दास-प्रथा जीवित है । इसमें अगर किसी स्त्री को जबरन दास न बनाया जाए तो भी स्त्री अपने बचपन से प्राप्त सामाजिक शिक्षा के कारण स्वेच्छा से पुरुषों की दास बनना स्वीकार कर लेती है । जे. एस. मिल लिखते हैं -'अन्य दास वर्गों से उनकी स्थिति (स्त्रियों की) इस मायने में भिन्न है, उनके मालिक पुरुष औरतों से मात्र आज्ञापालन ही नहीं, उनकी भावनाएं भी चाहते हैं । अत्यंत पाशविकों को छोड़ कर तमाम पुरुष अपने से सर्वाधिक अंतरंग ढंग से जुड़ी औरत से एक जबरी दास नहीं, इच्छुक दास चाहते हैं ।'[10]

भारतीय परिवार अभी भी जिस प्रकार से सामंतवादी संस्कृति की संस्कृति की निरन्तरता को बनाए रखने वाले परिवार हैं, उसमें जे. एस. मिल के उपरोक्त कथन की सत्यता ही रेखांकित होती है । परिवार में

स्त्री-पुरुष के कार्यों का विभाजन भी इस प्रकार से होता है कि स्त्री के घरेलू कामों को हीन और घर के बाहर आर्थिक सामाजिक गतिविधियों में लगे पुरुष के कार्यों को अधिक श्रेष्ठ और सम्मानजनक समझा जाता है । वह इसलिए कि जीवन की सुरक्षा के उपायों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान आर्थिक कार्यों को प्राप्त होता है । आय और सम्पत्ति का केन्द्रीय स्थान होता है । आय और सम्पत्ति पर पुरुषों का नियन्त्रण हो जाने से स्त्रियों का महत्व स्वत: ही पुरुषों की तुलना में समाज में कम हो जाता है । उनका समाज में स्थान पुरुषों को रिझाने लुभाने, भोग की वस्तु बनने और बच्चे पैदा करने तक सीमित रह जाता है ।

स्त्रियों के साथ होने वाले इस शोषण और अत्याचार का जैसा खुलासा उपन्यास `नौकर की कमीज` में होता है, वह इस उपन्यास को हिन्दी कथा जगत में और अधिक महत्वपूर्ण बना देता है । स्वयं संतू की पत्नी के रूप में जो स्त्री चरित्र उपन्यास में उभरता है, वह हमारे समाज की उन औसत स्त्रियों का प्रतिनिधि चरित्र है जिनका जीवन घर की चारदीवारी की कैद में बीतता है । उनकी न तो अपनी कोई महत्वाकांक्षाएं होती हैं और न ही स्वाधीन होकर आत्मनिर्भरता से जीने का कोई स्वप्न । संतू बाबू की पत्नी ही नहीं, बल्कि अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के डाक्टर की पत्नी और `साहब` की पत्नी सभी इस प्रकार का जीवन जीती हैं । घरेलू कार्य करना उन्हें अपनी नियति की तरह लगता है और उसी में अपने लिए संतोष तलाशती है । उनके नारीत्व की पहचान भी घर-गृहस्थी के कार्यों को दक्षतापूर्वक करने से जोड़ दी जाती है । स्त्रियों की इस समूची स्थिति पर फ्रांस की नारीवादी लेखिका सिमोन द बोउवा लिखती हैं -`हमने यह भी देखा कि घर गृहस्थी के उबाऊ कामों

पर काव्यमयता का जाल बुना गया । स्वतन्त्रता के बदले उसको शाश्वत नारीत्व का झूठा खजाना सौंपा गया । इस छलावे को बनाए रखने के लिए बालजाक बड़ा धूर्ततापूर्ण सुझाव पेश करते हैं -'उससे नौकरानी जैसा व्यवहार करो, पर उसको समझा कर रखो कि वह महारानी है ।' बहुत से पुरुष तो वास्तव में ऐसा विश्वास करते हैं कि स्त्री को सुविधाएं ज्यादा मिली हुई हैं ।'[11] बचपन से जीवन के अंत तक घर कीचार-दीवारी को ही अपना स्वाभाविक संसार समझने के कारण उनके व्यक्तित्व का सहज विकास भी नहीं हो पाता । सादगी, भीरुता, संकोच, और अन्तर्मुखता जैसे गुणों को नारीत्व का पर्याय मान लिया जाता है । बहिर्मुखता, आक्रामकता, गतिशीलता और प्रभुत्व जैसे गुणों के सहारे पुरुषत्व को पारिभाषित किया जाता है और इस आम प्रचलित धारणा को लगातार बल प्रदान किया जाता है कि अपने पुरुषत्व के सहारे पुरुष नारियों को अपना पराधीन बना लेगा । उधर पुरुष के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने की सर्वस्वीकृत छवि को ही स्त्री अपने जीवन की आदर्श छवि के रूप में ग्रहण कर लेती है । किंचित व्यंग्य भरे भाव से संतू बाबू अपने पुरुषत्व के सामने अपनी पत्नी की स्थिति को उजागर करते हुए संतू बाबू कहते हैं -'बचपन से गाय को गाय कहना सीखा था । शादी के बाद पूरी समझदारी से उसी तरह पत्नी को पत्नी कहना सीखा ।'[12] इस आदर्श नारी की छवि को आत्मसात कर और घरेलू कार्यों को ही करते रहकर जीवित रहने से भी स्त्री को अन्ततः क्या प्राप्त होता है । जो नियम-कायदे और कानून परिवार पर लागू होते हैं, उनके निर्माण में भी स्त्री का कितना हाथ होता है । घर परिवार चलाने का जो परंपरागत माडल है, उसमें स्त्री शायद ही अपनी इच्छा से कोई फेरबदल कर पाती है । उसकी सीमा केवल इतनी है कि वह अपनी इच्छाएं प्रकट करे और यह पुरुष पर निर्भर करता है कि वह उन इच्छाओं को पूरा करे या नहीं । संतू बाबू घर परिवारों के अंदर मौजूद इस सामान्य

सत्य को इन सरल शब्दों में प्रकट करते हैं -'यह मत करो, यह करो वाली मेरी बातें कानून ही होती थीं । पर ये कानून मैंने नहीं बनाए थे । मैं तो गृहस्थी की पुलिस था, बने हुए कानूनों की मुस्तैदी से रक्षा कर रहा था ।'[13]

यौन-भेद की राजनीति हमारे समाज में इतनी गहराई तक जमी हुई है कि बड़ी आसानी से यह तर्क दूसरों से मनवा लिया जाता है कि स्त्री की जैविक मनोवैज्ञानिक प्रकृति ही ऐसी है कि वह घरेलू कार्यों और बच्चों के पालन-पोषण जैसे कार्यों को पुरुषों की तुलना में अधिक स्वाभाविक ढंग से कर सकती है । यह तर्क समाज में पुरुष-वर्चस्व की संस्कृति पर पर्दा डालने के लिए दिया जाता है । स्त्री जिन कार्यों को इसी संस्कृति की प्रेरणा, दबाव और शिक्षा के द्वारा करती है, उसे प्राकृतिक और स्वाभाविक करार दे दिया जाता है । यह उसकी 'कंडीशनिंग' पर निर्भर करता है कि वह किन कार्यों और कर्तव्यों का निर्वाह करे न कि उसकी कथित जैविक-मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर । प्राय: आज के नारीवादी विमर्शों में आम तौर पर भी यही मान्य है कि समाज की पुरुष सत्तात्मक संस्कृति स्त्री की वर्तमान स्थिति की जिम्मेदार है न कि स्त्री की जैविक प्रकृति । समाज के आर्थिक साधनों पर किसी प्रकार का वास्तविक अधिकार न होना भी उसकी नियति पर पुरुषों का नियन्त्रण स्थापित कर देती है । लेकिन कुछ अन्य पश्चिमी नारी-वादी समाज में 'जेंडर' की असमानता के सभी कारणों को आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियों में खोजने को नाकाफी मानते हैं । जैसे कि शुला-स्मिथ फायर स्टोन ने अपनी पुस्तक 'द डायलेक्टिक्स आफ सेक्स' में लिखा है कि समाज में आर्थिक वर्गों के अस्तित्व में आने से पहले ही समाज में स्त्री पुरुषों की जैविक विभिन्नता के कारण यौन वर्गों का जन्म हो हो चुका था । सेक्स के आधार पर बने इस वर्गीय विभाजन ने ही पुरुषों को विभिन्न पुरुषों के बीच आर्थिक वर्गों के गठन की प्रेरणा दी ।

इसलिए फायरस्टोन का मानना है कि समाज के आर्थिक वर्गों के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए समाज के लैंगिक विभाजन को पहले समाप्त करना पड़ेगा । समाज में स्त्री पुरुष के बीच की असमानता को समाप्त करने के लिए यह भी अनिवार्य है कि उनके बीच की जैविक विभिन्नता को भी कम किया जाए । फायरस्टोन का इस जैविक विभिन्नता को कम करने के लिए यह सुझाव है कि समाज में कृत्रिम गर्भाशयों के निर्माण से प्रजनन को बढ़ावा देना चाहिए । गर्भधारण के बोझ से मुक्त स्त्री ही समाज में पुरुषों के समान अधिकारों का प्रयोग कर सकती है । फायरस्टोन के इस नारीवादीदृष्टिकोण की आलोचना भी हुई । इस आधार पर कि स्त्री के शोषण और सामाजिक समस्याओं का हल उसके द्वारा अपनी त्याग, कोमलता और दया जैसी मानवीय विशेषताओं और जैविक भिन्नताओं की अस्वीकृति में नहीं निहित है । वह समाज में आधुनिकता के फलस्वरूप आ रहे परिवर्तनों का उपयोग करके और अपने स्त्रीत्व की विशेषताओं को बचाए रख कर उन अधिकारों के लिए लड़ सकती है जो उसे पुरुषों के बराबर समाज में स्थान दिला सके ।

लेकिन जिस समाज में आधुनिकता का प्रवेश नहीं होता है, वहां परम्परा, पिछड़ेपन और रूढ़िवाद का अधिक गहरा प्रभाव होने के कारण अनगिनत प्रताड़नाओं का शिकार होना स्त्री की नियति बन जाती है । इन प्रताड़नाओं में पराधीनता, बलात्कार, यौन शोषण, छीटाकशी, और घरेलू हिंसा इत्यादि समाज में नित्य ही स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अनेक अपराध शामिल हैं । पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के विरुद्ध होने वाले अपराधों को सह जाने के लिए ऐसी समाजों में स्त्रियां विवश होती हैं । उपन्यास `नौकर की कमीज` में एक सामंती बन्धन में जकड़े

समाज में विवश स्त्रियों की लाचार हालत का वर्णन अनेक प्रसंगों में मौजूद है । संतू बाबू के एक मित्र संपत हैं जो हर रोज़ अपने बाप के साथ अपनी मां को पीटते हैं । संपत का कहना है कि अपने बाप के साथ मिल कर अपनी मां को पीटने की आदत उसकी बचपन से ही पड़ गई थी और वह अपने को रोक नहीं पाता । वैसे भी हमारे समाज में घरों में स्त्रियों के साथ होने वाली शारीरिक हिंसा की बुराई व्यापक पैमाने पर मौजूद है । अपने पुरुषत्व का झूठा प्रदर्शन, स्त्रियों की स्वाधीनता और प्रतिरोध शक्ति का दमन और अपनी हीनता ग्रंथि से मुक्ति इत्यादि कारण स्त्रियों के विरुद्ध हिंसा को जन्म देते हैं । समाज के स्त्री विरोधी चरित्र का एक उदाहरण यह भी है कि सबसे दिवालिया पुरुष भी किसी स्त्री के समक्ष स्वयं को अधिक शक्तिशाली समझता है और अवसर मिलने पर उसके साथ किसी भी प्रकार की हिंसा कर सकता है । आम परिवारों में भी पुरुष अपने पत्नी के साथ साझेदारी की भावना से कम अपने को विशिष्ट सत्ता और अधिकारों का स्वामी अधिक समझ कर अधिक परिवार का संचालन करता है । उसके अवचेतन में कहीं यह मिथ्या विश्वास भरा होता है कि वह अपनी ताकत से डराकर स्त्री को अपनी भोग्या बना लेगा और उसके साथ हिंसा करके उसे सीता सावित्री जैसा आचरण करने के लिए मजबूर कर देगा । वह यह भी चाहता है कि वह स्त्रियों के स्त्रीत्व को एक खास ढंग से पारिभाषित करे और स्त्रियों उसकी दी हुई परिभाषा के अनुसार अपनी जीवन शैली और आचरण को निर्धारित करें । जब वह महसूस करता है कि स्त्री उसकी दी हुई परिभाषा को नकार रही है तब उसे 'दण्डित' करने का दायित्व वह अपने हाथ में ले लेता है । इन सब कारणों से स्त्रियों के साथ होने वाले अपराधों और शारीरिक हिंसा पर झल्ला कर राममनोहर लोहिया ने लिखा था -'भारतीय मर्द इतना पाजी है कि अपनी घर की औरतों को वह पीटता है । सारी दुनिया में शायद औरत पिटती है, लेकिन जितनी हिन्दुस्तान में पिटती है, इतनी

और कहीं नहीं ।'[14]

उपन्यास 'नौकर की कमीज़' में संपत के द्वारा अपनी मां को पीटे जाने के साथ स्त्रियों की दीनता को प्रकट करने वाले और भी प्रसंग उपन्यास में मौजूद हैं । उपन्यास की कथा और घटनाओं से कई बार इन प्रसंगों का तारतम्य भी नहीं बैठता, फिर ये उपन्यास में मौजूद हैं । इन प्रसंगों की ऐसी मौजूदगी समाज में स्त्री समस्याओं के प्रति लेखक की सहानुभूति को भी प्रकट करती है । सामाजिक यंत्रणाओं के आगे घुटने टेकने और आत्महत्या करने के अनेक वाकये उपन्यास में आए हैं । संतू बाबू के विवरण से पता चलता है कि महाविद्यालय में हिंदी साहित्य पढ़ानेवाले अध्यापक, वनस्पतिशास्त्र के एक शिक्षक और संतू बाबू के एक पड़ोसी सभी की पत्नियां आत्म हत्या कर लेती हैं । वे आत्महत्या क्यों करती हैं, इसके स्पष्ट कारणों की कोई चर्चा उपन्यास में नहीं है । लेकिन जिसे सामाजिक वास्तविकता की औसत जानकारी है, वह भी सहज ही समझ सकता है कि पुरुष वर्चस्वशाली संस्कृति द्वारा दी गई यातनाओं के कारण वे अपने जीवन का अंत अपने हाथों से कर लेती है । उपन्यास का एक वाकया और है जिसमें संतू बाबू अपनी पत्नी को बताते हैं कि किस प्रकार एक स्त्री को जहर देकर उसकी हत्या कर दी गई । बाद में हल्ला मचा दिया कि 'बहू हैजे में मर गई ।' इन अमानवीय घटनाओं का उपन्यास में वर्णन इस क्रूर संसार का अहसास करता है जिसमें स्त्री विरोधी आचरण को बाकायदा एक संस्कृति और सर्वव्यापी वास्तविकता के रूप में ढाल दिया गया है ।

उपन्यास में केवल पुरुष द्वारा स्त्री के दमन के नहीं, बल्कि स्त्रियों के द्वारा स्त्रियों के साथ अनेक अमानवीय कृत्य करने के संकेत उपन्यास में मिलते हैं । जैसे कि संपत और उसके बाप तो संपत की मां को मारते

ही थे, जब तक उसकी सास जीवित रही, वह भी कम यातनाप्रद व्यवहार संपत की मां के साथ नहीं करती थी । उपन्यासकार के ही शब्दों में "जब तक उसकी सास जिन्दा रही - जो रोटी उससे नहीं फूलती थी, चूल्हे से निकली उसी रोटी को उसके चेहरे पर फिरा देती थी । इस कारण अभी भी उसका चेहरा खुरदुरा और हमेशा सूजा हुआ लगता था ।"[15] एक दूसरा उदाहरण और है जिसमें संतू बाबू अपनी पत्नी को बताते हैं कि किस प्रकार एक अन्य सास ने अपनी बहू को कुएं में कूदने के लिए प्रेरित किया, फिर बाकायदा एक सुनिश्चित पूर्व योजना के तहत उसकी हत्या कर दी । यह प्रसंग उस सामाजिक अवस्था को सत्यापित करते हैं जिसमें उस जालिम और असमान ढांचे को बनाए रखने में स्त्रियां भी अपना योगदान देती हैं, जो स्वयं स्त्रियों के विरुद्ध हैं । इस अवस्था कोबाकायदा एक रणनीति के तौर पर भी पुरुषों के द्वारा इस्तेमाल किया जाता है । यह कहते हुए कि स्त्रियों का एक जैविक वर्ग के रूप में सामूहिक प्रतिरोध इसलिए भी नहीं संभव क्योंकि स्त्रियों के दमन और उन पर अत्याचार में स्त्रियां भी पुरुषों से पीछे नहीं रहती हैं । लेकिन पुरुषों के हित के लिए गढ़ा गया यह तर्क क्या समूची स्थिति की व्याख्या कर सकता है । एक ही वर्ग के लोग कई बार परस्पर विरोधी हित होने के कारण एक दूसरे से लड़ते हैं, लेकिन कोई निचले वर्ग का व्यक्ति उनकी शक्ति को चुनौती देता है, तब वे उसके विरुद्ध एकजुट हो जाते हैं । इसी प्रकार पुरुषों में भी अनेक प्रकार के विभाजन मौजूद हैं, लेकिन स्त्रियों की चेतना और अधिकारों से संबंधित प्रश्न उठने पर लगभग सभी इस बात पर एकमत हो जाते हैं कि स्त्रियों को पुरुषों की पारंपरिक श्रेष्ठता को अस्वीकार नहीं करना चाहिए । दूसरी ओर हम देखते हैं कि अपने को जिंदा रखने और मालिक से इनाम पाने के लिए एक दास दूसरे दास को कत्ल कर देता था और एक पुरुष सत्तात्मक समाज में पुरुष प्रदत्त दृष्टिकोण से जीवन को

समझने के कारण एक स्त्री ही दूसरी स्त्री को अपना शत्रु मान लेती है । आखिर इस 'पावर साइकोलाजी' का रहस्य क्या है । दरअसल समाज की वस्तुस्थिति यह है कि प्रतिरोध की सामूहिक चेतना की अनुपस्थिति में दमित वर्ग अपने जीवन की रक्षा और आत्मिक रूप के संतोष के लिए दमनकारी वर्ग के ही मूल्यों और विचारधारा अनुरूप आचरण करने में अपना हित देखने लगता है । यह मूल्य और विचार-धाराएं समाज की शाश्वत रचना होने का मिथ्या विश्वास पैदा करके भी इस स्थिति की निरन्तरता को बनाए रखती हैं । इसलिए एक स्त्री भी महसूस करती है कि पुरुषों के बनाए सामाजिक पारि-वारिक नियम और कानून ही सत्य और शाश्वत हैं, इसलिए उनको स्वीकार कर लेना चाहिए । चूंकि यह नियम कानून स्त्रियों के प्रति क्रूर है, इसलिए एक स्त्री किसी दूसरी स्त्री के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार करती हुई अपने को अपराधी नहीं महसूस करती, बल्कि उसके अवचेतन में सामाजिक परम्पराओं और संस्कृति के अनुकरण का भाव निहित होता है । एक स्त्री की देह में पुरुषवादी विचारों का प्रवेश हो जाता है । और चूंकि वह उस व्यवस्था में है जिसमें उद्योग, समाज, राजनीति, कानून और नौकरियों इत्यादि हर जगह पुरुषों का आधिपत्य है, इसलिए वह उसमें अपने को हीनतर दशा में पाती है । ऐसी हीनतर दशा में रहते हुए अपना महत्व प्राप्त करने और अहंकार को संतुष्ट रखने के लिए अपने ही समान किसी दूसरी कमजोर स्त्री पर अत्याचार करना उसके लिए एक सहज कार्य बन जाता है ।

उपन्यास में स्त्रियां समाज की जिन प्रतिकूल परिस्थितियों में रहती हैं, उसके विविध आयामों की अभिव्यक्ति उपन्यास में मिलती है । स्त्रियों की परम्परागत हीन दशा का लाभ उठाने के प्रयास अनेक प्रकार से किए जाते हैं । एक सामंती संस्कृति के समाज मध्य वर्ग और उच्च वर्ग की स्त्रियों का दायरा घर तक सीमित होता है । परिवार की

आर्थिक आवश्यकताएं पुरुषों के द्वारा पूरी हो जाती हैं - इसलिए उनका घर से बाहर निकलना जरूरी नहीं समझा जाता । लेकिन कामगर मजदूर वर्ग की दशा दूसरी होती है । इसमें अपनी अशिक्षा, अकुशलता और पिछड़ेपन के कारण पुरुष अपने श्रम से इतना धर्मोपार्जन नहीं कर पाते कि उससे परिवार चलाया जा सके । इसलिए स्त्रियों को भी मेहनत मजदूरी के काम से परिवार की आय में अपनी ओर से कुछ जोड़ना पड़ता है । समाज की विषम परिस्थितियों के बीच अपने श्रम को बेचने वाली इसी मजदूर वर्ग की स्त्रियों की दशा का वर्णन उपन्यास में `नौकर बाजार` वाले प्रसंग में है । इस प्रसंग में अभावग्रस्त स्त्रियों के श्रमिक के रूप में कार्य करने और उनके यौन शोषण जैसी समस्याओं का संक्षिप्त विवरण मौजूद है । स्त्रियों को पुरुषों की तुलना में दोहरी मार झेलनी पड़ती है । एक ओर गरीबी और कमर तोड़ परिश्रम की और दूसरी ओर यौन शोषण के खतरों की । गरीबी स्त्रियों को ऐसी यातना और अपमान से भरी परिस्थितियों के काम करने के लिए विवश कर देती है । उपन्यासकार लिखता है -`सेठ, साहब लोगों के काम के लिए ड्राइवर मोटर में आता और मोटर में बैठा कर ले जाता । इन लोगों के ड्राइवर और नौकर रेजा छांटते समय कोशिश करते थे कि रेजाएं जवान और अच्छी हों । इससे ये लोग रोजी तय करने में मजाक करते थे जैसे `एक रोज का कितना लोगी, एक रात का कितना लोगी, घंटे-भर का कितना, दस मिनट का कितना` इत्यादि । अच्छे खानदानी लोग भी बेशर्मी से जवान सुन्दर लड़कियों को छांट कर ले जाते थे ।`[16] मजदूर वर्ग की इन स्त्रियों के साथ होने वाले अन्याय की सुनवाई कहीं नहीं होती । इसलिए क्योंकि गरीबी व्यक्ति को अशक्त बना देती है और अशक्त व्यक्ति को न्याय दिया जाना जरूरी नहीं समझा जाता ।

उपन्यास में कुछ संक्षिप्त प्रसंगों के माध्यम से लेखक ने मौजूदा समाज और संस्कृति में स्त्रियों की स्थिति को व्यक्त किया है । लेकिन

उनका मूल कथा ढांचे से सीधे जुड़ा न होने के कारण विस्तार से उस पर कोई प्रकाश नहीं डाला जा सका है । बल्कि यह कहना चाहिए कि पुरुष समाज के अधीन स्त्रियों की समस्याओं की अभिव्यक्ति एक पिछड़े हुए समाज की ही तस्वीर को अधिक मुकम्मल बनाती है । दहेज न मिलने पर आग के हवाले की गई पत्नियां, आत्महत्या के लिए मजबूर की गई स्त्रियां और पति के प्रति अत्यधिक आज्ञाकारिता के भाव से भरी पत्नियां इन सब की दशा के प्रति संतू बाबू संवेदनशील हैं । उनकी संवेदनशीलता उपन्यास के लेखक की संवेदनशीलता है । लेकिन संतू बाबू की पत्नी के रूप में दासता में जकड़ी जिस निम्नमध्यवर्गीय स्त्री की तस्वीर उभारी गई है, वह अधिक वास्तविक है । स्त्रियों के साथ होने वाले अत्याचारों और दी गई यातनाओं के जो दूसरे वर्णन हैं, वह अधिक अखबारी हैं । लेकिन उपन्यास की लय और नाटकीयता से बिंधे होने के कारण यह अखबारी वर्णन भी अलग से जोड़े हुए न लगकर अधिक सार्थक लगते हैं । लेकिन स्त्रियों की इन दारुण समस्याओं का समाधान क्या है? संतू बाबू अपने अपमान और दासता से क्षुब्ध होकर नौकर की कमीज को फाड़ कर अपने साथियों के साथ मिल कर उसे जला देते हैं और मकान बदल लेने की ठान लेते हैं । लेकिन सामंती संस्कृति के वर्चस्व के प्रभाव वाले समाज में संतू बाबू की पत्नी क्या करे, जो स्वयं भी दासता के अदृश्य बन्धनों में जकड़ी हुई है ।वह कैसे अपनी पराधीनता के सांचों को तोड़ कर जला सकेगी । उसमें और समाज में उसके जैसी दूसरी औरतों में तो अपने शोषित होने का अहसास ही नहीं, फिर कैसे अपने शोषण के प्रति असहिष्णु होना सीखेगी । जाहिर है यथार्थवाद के आग्रह के चलते स्त्रियों की गहन सामाजिक समस्याओं के चित्रात्मक विवरण उपन्यास में मौजूद हैं, लेकिन इन जटिल प्रश्नों की ओर ध्यान नहीं दिया गया है । तर्क के आधार पर यह माना जा सकता है कि किसी रचनात्मक कृति से किसी ऐसी समस्या के सारे प्रश्नों और उनके संभावित समाधान की प्रस्तुति की आशा नहीं की जानी चाहिए । वैसे भी एकपुरुष लेखक स्त्रियों के जीवन से जुड़ी तकलीफों के विषय में संवेदनशीलता और

सहानुभूति से लिख तो सकता है, लेकिन स्त्रियों के जीवन में परस्पर गुथे हुए अनेक अनुभवों और आत्मिक पीड़ा को प्रकट करने में उसकी अपनी सीमाएं प्रकट हो जाती हैं । इसीलिए यथार्थ की स्वानुभूत समझ और सहानुभूति के आधार पर प्राप्त समझ में अन्तर होता है । उपन्यास में संतू बाबू अपनी पत्नी की अति आज्ञाकारिता से दुखी हैं, लेकिन अपनी पत्नी को उस आज्ञाकारिता की संस्कृति से मुक्त करना या उसके प्रति विरक्ति पैदा करना भी उनकी प्रेरणा में कहीं शामिल नहीं । वे अपने गुलामी के प्रतीकों को नष्ट कर देते हैं, लेकिन वे अपनी पत्नी और दूसरी स्त्रियों को अदृश्य गुलामी के बन्धनों को तोड़ने के लिए उत्प्रेरित नहीं कर पाते हैं । संतू बाबू की ये सीमाएं लेखक के दृष्टिकोण की भी सीमा है । जिस प्रकार गुलामी के सांचों को दिखाना एक यथार्थवादी दृष्टि है, उसी प्रकार उन गुलामी के सांचों का सामंती परिवेशों में टूटना भी एक सामाजिक यथार्थ है जो उपन्यास में कहीं भी मौजूद नहीं । शोषितों की प्रतिरोध चेतना को न प्रकट करना ही यथार्थवादिता नहीं होता है । और यदि यथार्थवादी दृष्टि की कसौटी यही है, तब लेखक को संतू बाबू के शोषण को प्रकट कर लेना पर्याप्त समझ लेना चाहिए था । लेकिन लेखक ने तो बाकायदा उन्हें अपनी पराधीनता के खिलाफ विरोध की तैयारियां शुरू करते हुए दिखाया है । उपन्यास में संतू बाबू का यह विद्रोह उपन्यास को सुखान्त की ओर ले जाता है, लेकिन स्त्रियों के जीवन से संबंधित समस्याएं और एकाध प्रश्न उपन्यास में जस के तस रह जाते हैं । न तो कथानक में एक सीमा से अधिक उनको विस्तार दिया गया है और ना ही किसी प्रसंग अथवा कथात्मक नाटकीयता के जरिए स्त्रियों का इन समस्याओं से मुक्त होने का कोई आशावाद ही पैदा किया गया है । इसीलिए उपन्यास में समाज में मौजूद 'जेंडर बायस' अथवा पुरुषीय दुराग्रह का केवल अधूरा चित्र उभर पाता है और पाठक की मानसिकता पर भी उसका कोई गहरा और विचारोत्तेजक प्रभाव नहीं पड़ता है ।

`नौकर की कमीज` के पात्र महानगरीय न होकर कस्बाई हैं । एक कस्बाई जीवन में अति साधारण मानवों के रूप में जो चरित्र मिलते हैं, वे उपन्यास में जगह-जगह मौजूद हैं । कविता और दूसरी अन्य साहित्यिक विधाओं से अलग उपन्यास की विशेषता यह होती है कि इसमें एक ओर तो जीवन का व्यापक चित्र मौजूद होता है और दूसरी ओर मानवीय मन में गहन पैठ भी इसके माध्यम से सम्भव होती है । `नौकर की कमीज` उपन्यास किसी श्रेष्ठ औपन्यासिक कृति के इन दोनों प्रतिमानों पर खरा उतरता है । आज के समय में मध्यवर्ग आधुनिक परिवर्तनों के दबाव से पैदा होने वाली उपभोक्तावादी संस्कृति से आज्ञा मुग्ध और आज्ञा आतंकित होकर अपनी जड़ों से निरन्तर कटता जा रहा है । समाज के अनुत्पादक `अभिजन वर्ग ` में प्रवेश की होड़ में वह देश की सामान्य अभावग्रस्त जनता के प्रति वह उपेक्षा और घृणा का भाव संचित करने लगा है । वह जिन विचारों, आचरण और जीवन शैली को आत्मसात् कर रहा है, उससे इस देश की सामान्य संघर्षशील जनता और उसमें दूरी निरन्तर बढ़ती जा रही है । उसके लिए अधिक आत्मकेंद्रित होना अधिक समझदार होने की निशानी है । सम्पन्न हो जाने की भ्रष्ट लालसा और उपभोक्तावादी प्रभावों ने उसकी संवेदना को दीमक की तरह चाटना शुरू कर दिया है । आर्थिक उत्पादन के भौतिक आधारों में जो नवीन परिवर्तन हुए हैं, उसमें उसकी भूमिका एक निष्क्रिय उपभोक्ता तक सीमित होती जा रही है । अपने देश की प्रकृति और आम जनता की भावपूर्ण मानवीय भावनाओं से कट जाने के कारण उसके जीवन की लय, सौन्दर्यानुभूति और भावमयता सभी का अन्त सुनिश्चित होता जा रहा है ।

ऐसी विकट परिस्थितियों में एक मध्यवर्गीय लेखक के रूप में विनोद कुमार शुक्ल ने एक स्थानीय परिवेश के जिस आम जनजीवन और साधारण

मानव चरित्रों को जैसी उदार संवेदना से उभारा है, वह सहज ही एक आशा जगाती है । जीवन के साधारण गरीब चरित्रों, उनके जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों और जीवन की एक सहज मस्ती के बीच जारी संघर्षों के विषय में पढ़ना जैसे इनके जीवन का नया रोमांचक परिचय प्राप्त करना है । उपन्यास के अनेक चरित्र जैसे संतू बाबू के मित्र संपत, महंगू, बड़े बाबू, देवांगन बाबू, गोराहा बाबू, संतू बाबू की मांऔर उनके भाई और गर्दन की रसोली से पहचाना जानेवाला महावीर लेखक की कलात्मक संवेदना और सौन्दर्य बोध की उदारपरिधि में सब के चरित्र शामिल हैं । जीवन के इन संघर्षशील और अतिसाधारण चरित्रों की अपनी रचना में ऐसी लगाव और आत्मीयता भरी प्रस्तुति लेखक की रचनात्मक दृष्टि में मौजूद जनवादी झुकावों को भी स्पष्ट करती है । लेकिन लेखक की दृष्टि में मौजूद इन जनवादी झुकावों का आभास सीधे-सीधे किसी विचारधारा की स्वीकृति की उपज नहीं है । लेखक की अपनी एक मध्यवर्गीय सोच है और उसकी यह सोच इन चरित्रों के औपन्यासिक वर्णन को प्रभावित करती है । नागबोडस ने लेखक विनोद कुमार शुक्लकी इस प्रवृत्ति के विषय में लिखा है -'गौर करने की बात है कि विनोद की द्वन्द्वात्मक दृष्टि सीधे सीधे राजनीतिक समझ से बनी हुई नहीं है । वह सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों केकिसी पांडित्यपूर्ण मार्क्सवादी विश्लेषण की जननी नहीं है । वह कथात्मक है, इसलिए उसमें तारतम्य एवं तार्किक एकबद्धता नहीं है । पर वह निष्कर्ष निकालने की क्षमता रखती है, फिर यह निष्कर्ष चाहे भले ही मध्यवर्गीय मूल्यों के दायरे में हो, लेकिन मध्यवर्गीय मानसिकता को नकारने का विनोद का दावा भी तो नहीं है ।'[17]

उपन्यास के कुछ विशिष्ट चरित्रों में संतू बाबू के बचपन के मित्र सम्पत प्रमुख हैं । वह दसवीं पास है और महाविद्यालय की रसायन शास्त्र

की प्रयोगशाला में काम करता है । चूंकि संतू बाबू के वह बचपन के दिनों से मित्र है, इसलिए नौकरी और सामाजिक स्थिति में अन्तर होने के बावजूद वे उनके काफी निकट है । आड़े वक्तों में दोनों एक दूसरे की मदद करते हैं । समाज की स्थिति और दशा समाज के सभी व्यक्तियों के व्यक्तित्व के अच्छे और बुरे पहलू से प्रकट होती है । समाज में क्या विकृतियां और कमियां हैं, यह किसी व्यक्ति के आचरण से ही जानते हैं और समाज की अच्छाइयों भी व्यक्तियों द्वारा कृत श्रेष्ठ कार्यों में व्यक्त होती हैं । संपत जैसे साधारण मनुष्यों का चरित्र भी ऐसे ही अच्छे और बुरे पक्षों को मिलाकर बनता है । वह अपने पुरुषोचित दुराग्रहों के कारण अपने बाप के साथ मिल कर अपनी मां को मारता है और एक आम आदमी की तरह अपनी मेहनत से अपने और परिवार की उन्नति के लिए प्रयत्न भी करता है । वह एक रेडियो स्कूल में तीस रुपए हर महीने की फीस देकर इस उम्मीद से काम सीखता है कि कभी खुद भी रेडियो मैकेनिक बन सकेगा । लेकिन बाज़ार निजी स्वार्थों की प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा होता है । इसमें जिसे दूसरों को ठगने की कला अधिक आती है, वह अधिक फायदे में रहता है । उपन्यास के संपत जैसे लोग भी इस बाजार में इसी तरह ठगे जाते हैं । उपन्यास में स्पष्ट संकेत मौजूद हैं कि संपत भी तमाम प्रतीक्षा और मेहनत के बाद भी कभी रेडियो मैकेनिक नहीं बन सकेंगे । बाजार उन्हें सम्पन्न बनने और अपनी स्थिति सुधारने के सपने बेचेगा लेकिन अंतिम परिणति में वह उनका शोषण ही करेगा ।

उपन्यास के एक अन्य पात्र खोमचा पलट वाले महावीर हैं । उसके विषय में उपन्यास में दो स्थानों पर विस्तार से वर्णन मौजूद है । उपन्यास का पांचवां खण्ड तो लगभग पूरा का पूरा महावीर के ऊपर केन्द्रित है । महावीर एक निम्न वर्ग का पात्र है । उसकी विशेषताओं

के बारे में सेतू बाबू की दृष्टि की माध्यम से लेखक इस प्रकार बताता है, 'महावीर दूर से पहचान में आ जाता था । उसके गले में दो साल के बच्चे के सिर के बराबर रसौली थी । अनजाने में लोगों को धोखा हो जाता कि उसकी पीठ पर बच्चा लदा है, जबकि महावीर बिलकुल अकेला होता ।'[18]

स्थितियों के नाटकीय स्फिति के भीतर इन्सान के संघर्ष और असहायता को दिखाने की कला में उपन्यास लेखक माहिर है । वैसे भी कलाकृति अगर यथार्थ की रचनात्मक पुनर्रचना है, तब इस पुनर्रचना की प्रक्रिया में नाटकीयता के तत्व स्वत: ही आकर मिल जाते हैं । उपन्यास में महावीर जैसे चरित्रों की प्रस्तुति में नाटकीय घटनाओं का एक समूचा प्रभाव मौजूद रहता है । यह महावीर ऐसा चरित्र है जो घंटों एक जगह खड़े होकर मूंगफली बेचता है, अपनी गर्दन के कूबड़ यानी रसौली का आप अपने मुंह से मज़ाक उड़ाता है और जब बाजार में मूंगफली नहीं आती तो भी अपनी खड़े रहने की आदत के कारण वह बिना खोमचा के स्कूल के आगे घंटों खड़ा रहता है ।

उपन्यास का एक और महत्वपूर्ण चरित्र महंगू है, जिसका प्रभाव उपन्यास के कई हिस्सों में मौजूद है । महंगू का दफ्तर और दफ्तर के साहब के किसी निजी कार्यों को करना पड़ता है । वह नितान्त निर्बल इन्सान है, इसलिए हर जगह हर किसी का गुलाम है । उसकी अपनी कोई रुचियां, आकांक्षाएं और इच्छाएं नहीं हैं । वह दफ्तर के साहबों के लिए उपयोगी है क्योंकि उसने अपने जीवन में दूसरों के आदेश को मानकर उन्हें फुर्ती से पूरा करना ही सीखा है । लेकिन उपन्यास में महंगू का अंत बड़ा कारुणिक है । अपने साहबों की सेवा करते करते महंगू अपना मानसिक संतुलन खो देता है । वह लोगों की भीड़ में, बाजार में और सिनेमाघर के आसपास अपने पराधीनता के मनोविज्ञान से परिचालित होकर लोगों को 'राम राम साहेब' करता घूमता है और पुलिसवालों

और गुंडों से मार खाता है । उपन्यास में महंगू जैसे पात्र की जीवन दशा और उसका अंत हमें यह अहसास कराता है कि 'नौकर की कमीज़' उपन्यास ब्यूरोक्रेसी में मौजूद अमानवीयकरण की प्रक्रिया और अहसान-फ़रामोशी को व्यक्त करने वाला एक सशक्त दस्तावेज बन गया है । यहां तक कि महंगू जैसे लोगों की दशा और एक अनिवार्य अंत उस परिस्थिति से कहीं अधिक गंभीर है जिसके शिकार संतू बाबू जैसे लोग हैं । यद्यपि शोषण का पैटर्न भी एक ही है, लेकिन फिर भी महंगू जैसे व्यक्तियों की पीड़ा के आगे संतू बाबू के जीवन की समस्याएं भी हल्की नज़र आने लगती हैं ।

देवांगन बाबू, गौराहा बाबू और बड़े बाबू एक सरकारी दफ़्तर में काम करनेवाले साधारण बाबुओं के वर्ग के लोग हैं । इनके चरित्र की अपनी कोई विशिष्टता नहीं, केवल तकलीफें ही तकलीफें हैं जिनका सामना करते हुए यह जिन्दगी बिताते हैं । आपसी तनाव, साहब का दूसरों से अधिक विश्वासपात्र बन जाने की पारम्परिक होड़, ईर्ष्या, सहानुभूति और प्यार सभी कुछ इनके आपसी सम्बन्धों में मौजूद हैं । उपन्यास के जिन हिस्सों में दफ़्तर के प्रसंग मौजूद हैं, वह शायद उपन्यास के सबसे रोचक हिस्से हैं । इन हिस्सों में कभी नाटकीयता इस सीमा तक है कि लगभग सभी चरित्र और समूचा वातावरण असामान्यता की सीमा को स्पर्श करने लगते हैं । बड़े बाबू की आंतों का ऊपर चढ़ना, बाहुओं द्वारा एक व्यंग्य नाटक लिखने की योजना बनाना, उनके आपसी बाल सुलभ झगड़े और नौकर की कमीज़ को पहले बालीबाल बनाकर खेलना फिर उसका सामूहिक दहन यह सारी घटनाएं समाज के यथार्थवादी धरातल से विच्छिन्न हुए बगैर भी एक नाटकीय असामान्यता का आभास कराने लगती हैं ।

लेखक की खूबी यह है कि वह दफ़्तरी बाबुओं के सनकी व्यवहारों को उनके जीवन में मौजूदा एकरस निरंतरता के विरुद्ध इस्तेमाल करता

है । अपनी संकुचित दुनिया और संकुचित समझ के चौखटे में ये चरित्र अपनी सनक को जस्टीफाई करते हुए लगते हैं ।

उपन्यास के अन्य पात्रों में डाक्टर साहब, डाक्टरनी बाई, साहब और उनकी पत्नी आते हैं । इन पात्रों का महत्व केवल इनके पद और सामाजिक आर्थिक स्थिति के कारण है, इनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं । चूंकि इनमें समाज का प्रभुवर्ग होने का गर्व है, इसलिए जनसाधारण से दूर रहकर उसके प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार करना इनके स्वभाव का अंग है । उपन्यास में इसी के चलते लेखक ने डाक्टर और साहब जैसे लोगों को कोई नाम नहीं रखा है, केवल उनके पद, अधिकारों और व्यवसाय से ही उनका परिचय दिया जाताहै । उपन्यास में इनकी सामाजिक आर्थिक शक्ति ही इन चरित्रों की खूबी है और किसी प्रकार की उदात्त संवेदना या मानवीय भावना न होने के कारण इनके चरित्र में कहीं कोई ध्यानाकर्षक मौलिकता नहीं है ।

उपन्यास की कुछ और गौण घटना प्रसंग हैं जिसमें महंगू के लड़के, संतू बाबू केभाई, पत्नी और बच्चों के अलावा किराने की दुकान वाले गुप्ता जी, माली इत्यादि पात्र एक सहज स्थानीय परिवेश का हिस्सा बन कर सामने आते हैं ।

'नौकर की कमीज़' के विभिन्न पात्रों के विषय में जानकर यह एक आसान सा निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपन्यास के पात्र एक स्पष्ट विभाजक रेखा के आर-पार दो भागों में बंटे हुए हैं । एक ओर डाक्टर और साहब जैसे निरंकुश शक्ति के स्वामी लोग हैं और विभाजक रेखा के दूसरी ओर संतू बाबू, महंगू, संपत, महावीर इत्यादि पात्रस्थित हैं, जो प्रभुवर्ग द्वारा फैलाए गए भ्रम, दमन और लूट के जाल में फंस

जाने के लिए बाध्य हैं । लेकिन पात्रों की सामाजिक स्थिति के आधार पर ऐसा स्पष्ट विभाजन स्वीकार करना अपने में नाकाफी है । संतू बाबू, संपत, महावीर इत्यादि पात्रों का एक निजी सुख दु:खों से भरा व्यक्तिगत संसार है जिसमें क्रूरताएं भी हैं और भावपूर्ण मानवीय ऊष्मा भी । हताशा है और अपने संकटों से जूझने का संकल्प भी । साथ ही व्यापक सामाजिक संरचना के संदर्भ में अपनी स्थिति और संकटों को न समझ सकने के कारण जीवन में यथास्थितिवाद के प्रति एक मोह भी है । एक आलोड़नहीन समाज में मौजूद इन पात्रों का यह यथास्थितिवाद अपने में खास `टेरर` का सूचक है । उस `टेरर` का जिसमें समाज का वातावरण व्यक्ति को मानवीय बनते जाने का एक भी मौका नहीं देता, बल्कि उसके अमानवीयकरण की दसियों परिस्थितियों को तैयार कर देता है ।

-

संदर्भ

1. नौकर की कमीज, पृ0 7
2. वही
3. खिलेगा तो देखेंगे, पृ0 37
4. सब कुछ होना बचा रहेगा, पृ0 28
5. वही, पृ0 24
6. नौकर की कमीज, पृ0 13
7. वही, पृ0 59

8. वही, पृ0 19
9. वही, पृ0 246
10. हंस, नवम्बर-दिसम्बर 1994, पृ0 72
11. सिमोने द बोउवा, स्त्री : उपेक्षिता, पृ0 339
12. नौकर की कमीज, पृ0 111
13. वही, पृ0 60
14. राममनोहर लोहिया : भारत माता - धरती माता, पृ0 104
15. नौकर की कमीज़, पृ0 101
16. वही, पृ0 156
17. नौकर की कमीज़ को लेकर : पूर्वग्रह, अगस्त 84, पृ0 201
18. नौकर की कमीज, पृ0 28

-

अध्याय - 4

उपन्यास का शिल्प, भाषा और व्यंग्य

सभी कलाएं भाव-सप्रेषण और अभिव्यक्ति के लिए अलग अलग माध्यमों का चुनाव करती हैं । संगीत का माध्यम स्वर और ध्वनियां, चित्रकला का माध्यम रंग और आकृतियां, और मूर्तिकला का माध्यम आकार और ठोस वस्तुएं होती हैं । इसी प्रकार एक साहित्यिक कृति भी एक कलाकृति होती है । भाषा, वाक्य, लय, शब्द इत्यादि इस कलाकृति में अभिव्यक्ति के प्रमुख उपकरण के रूप में प्रयोग में लाए जाते हैं । कल्पना एक ऐसा सामान्य गुण है, जिसका प्रयोग सभी कलाओं की अभिव्यक्ति में अधिक संवेदनशीलता और प्रभाव पैदा करने के लिए किया जाता है । फिर चाहे वह साहित्य हो या अन्य कोई कला । कल्पना जहां किसी कृति के आंतरिक पक्ष यानी उसकी विषयवस्तु के चुनाव और संयोजन को प्रभावित करती है, वहीं रचना के रूप पक्ष यानी भाषा, शब्द प्रयोग, लय और समूची शिल्प संरचना का मूल निर्धारण भी कल्पना के माध्यम से ही होता है । साहित्य रचना के क्षेत्र में उपन्यास एक ऐसी विधा है जिसका रूप पक्ष इसलिए महत्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि उपन्यास में स्वभावत: वैयक्तिक और सामाजिक यथार्थ का विस्तृत चित्रण अधिक मौजूद होता है । किसी रचना में रूप के विभिन्न पक्षों को अनदेखा करने का अर्थ होता है रचना के समग्र महत्व को नजरअन्दाज करना । किसी रचना में रूप की विविधता के सम्बन्ध में मैनेजर पाण्डे ने हंगरी के आलोचक जार्ज लुकाच की अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए लिखा है -"साहित्यिक रचना में रूप के दो प्रकार होते हैं । एक रूप वह है जो अन्तर्वस्तु के परिवर्तन के बावजूद अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं । इसे साहित्यिक विधा कहा जा सकता है । रचना के भीतर दूसरे प्रकार का रूप अन्तर्वस्तु को रूपायित करने का माध्यम और साधन होता है, इसलिए वह अन्तर्वस्तु के साथ परिवर्तनशील और विकासशील होता है ।"[1]

रचना के भीतर के अन्तर्वस्तु को रूपायित करने वाले इसी दूसरे प्रकार के रूप को शिल्प कहा जाता है । उपन्यास के रूप के निर्धारण में रचनाकार की विश्वदृष्टि और जीवनानुभवों का योगदान होता है । लेकिन वैयक्तिक प्रतिभा के साथ-साथ समाज का गतिशील यथार्थ और उसमें विकासमान ऐतिहासिक सामाजिक स्थितियां भी शिल्प की संरचना, महत्ता और विशेषताओं को प्रभावित करती है । उदाहरण के लिए पिछली सदी के अंत और इस सदी के आरंभ में मध्यवर्गीय रोमान और उपदेश प्रधानता पर आधारित जिस प्रकार केशिल्प में उपन्यास लिखे जाते थे । अब प्राय: उसी शिल्प में समकालीन आधुनिक उपन्यास नहीं लिखे जाते । विधा वही है, लेकिन उसमें शिल्प सम्बन्धी नए नए प्रयोग लक्षित हो रहे हैं । इस प्रकार एक अर्थ में किसी भी रचना का शिल्प पक्ष वस्तुत: सौन्दर्य बोध, वैयक्तिक प्रतिभा और ऐतिहासिकता सभी के मिले जुले प्रभाव से निर्धारित होता है ।

प्राय: किसी रचना की अन्तर्वस्तु और उसके शिल्प पक्ष यानी रूप को महत्व देने के स्तर पर विभिन्न आलोचकों की अलग अलग राय रही है । रूपवादी आलोचकों का मत है कि रचना का रूप पक्ष ही उसका प्रधान पक्ष होता है और वही पाठक की चेतना और भावजगत को प्रभावित करने का काम करता है, जबकि जिन आलोचकों की दृष्टि में रचना की अन्तर्वस्तु ही मुख्य है, उनका मानना है कि साहित्य का रूपवादी दृष्टिकोण साहित्य को आम जनजीवन से दूर ले जाता है और उसमें एक किस्म का प्रतिक्रियावाद पैदा करता है । प्राय: यह भी समझा जाता है कि मार्क्सवादी समीक्षा के अन्तर्गत रूप को वस्तु की तुलना में गौण मान लिया जाता है । लेकिन किसी रचना में रूप के महत्व को स्वीकार करना और रूप को ही रचना का प्रधान पक्ष मान लेना, इन दो

स्थापनाओं में अंतर है । साहित्य की पक्षधरता में विश्वास रखने वाले लेनिन ने साहित्य से उत्कृष्ट कला गुणों की मांग की है । एक अन्य इंगलैण्ड के मार्क्सवादी साहित्य सिद्धान्तवेत्ता राल्फ फॉक्स ने लिखा - 'कला के रूपवादी पक्ष की उपेक्षा करना मार्क्सवाद की आत्मा के विपरीत है । मार्क्स विषयवस्तु और स्वरूप को एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से गुंथा हुआ, जीवन के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध से जुड़ा हुआ समझते थे । वह उपन्यासकार, जो समाजवादी यथार्थवाद को अपनाता है, स्वरूप सम्बन्धी प्रश्नों को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझता है ।'[2]

रचनाकार विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास 'नौकर की कमीज़' में निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति का जीवन और जनजीवन का यथार्थ ही उपन्यास का कथ्य है । लेकिन यह उपन्यास जहां अपनी कथ्यगत विशेषताओं के कारण हिन्दी उपन्यास जगत में जाना गया, वहीं इसमें प्रयुक्त शिल्प और भाषा सम्बन्धी प्रयोगों ने भी समूचे पाठक जगत का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया । जो काम कभी अज्ञेय ने 'शेखर : एक जीवनी' में लिखकर या रेणु ने 'मैला आंचल' लिखकर किया था, उपन्यास के बने बनाए ढांचे को तोड़ा था, वही काम विनोदकुमार शुक्ल ने भी किया है । उपन्यास में शिल्प का बना बनाया और पूर्वस्वीकृत ढांचा उनको स्वीकार नहीं । 'नौकर की कमीज़' में प्राय: यह ढांचा हल्का-सा टूटता है, लेकिन बाद के दो उपन्यासों 'खिलेगा तो देखेंगे' में और 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में शिल्प सम्बन्धी प्रयोगधर्मिता के प्रति लेखक का झुकाव और अधिक बढ़ जाता है ।

'नौकर की कमीज़' का मुख्य पात्र संतू बाबू का उपन्यास में चरित्र चित्रण प्राय: एक आत्म सजग व्यक्ति के रूप में हुआ है । ऐसे आत्मसजग

व्यक्ति के रूप में जो उपन्यास में घटनाओं के भोक्ता के रूप में और वर्णनिकर्ता के रूप, दोनों ही रूप में उपन्यास में मौजूद है । इस आत्म सजगता का प्रभाव शिल्प और भाषा दोनों पर पड़ा है । चरित्र की इस आत्मसजगता के प्रभाव का मूल्यांकन किसी कृति में अलग-अलग ढंग से किया जाता है । आलोचक नामवर सिंह का मानना है कि स्वचेतनता या `सेल्फ कांशासनेस` किसी भी श्रेष्ठ कृति की रचना में बाधा है । वे अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं --`अब मेरी अपनी यह धारणा बनी है, संसार के और अपने देश के क्लासिक्स को देखते हुए, कि एक श्रेष्ठ कालजयी सर्जनात्मक कृति की रचना के लिए यह `आत्मसजगता` बाधक है ।`[3] लेकिन अधिक आत्मसजगता को श्रेष्ठ कृति की रचना में बाधक मानने वाले डा० नामवर सिंह `नौकर की कमीज़` जैसी रचना को इसका अपवाद भी बताते हैं । वे इसी साक्षात्कार में यह भी कहते दिखाई देते हैं कि `नौकर की कमीज़` में आत्म सजगता शक्ति बन जाती है क्योंकि `उस उपन्यास का जितना बड़ा कैनवस है और जिस जीवन की विडंबना से जुड़ा हुआ उसका कथ्य है, उसमें नैरेटर की `सेल्फ कांशसनेस` स्वयं भी योगदान देती है ।`[4]

उपन्यासकार की यह आत्मसजगता जहां उपन्यास के वस्तु पक्ष में जीवन की विडम्बनाओं को प्रकट करती है, वहीं यह शिल्प पक्ष को भी वस्तुपक्ष के संगत बनाने के लिए उसमें नए प्रयोगों का आभास पैदा करती है । संतू बाबू के रूप में एक `नैरेटर` की उपन्यास में मौजूदगी बाह्य जीवन की विविधता पूर्ण घटनाओं और वैयक्तिक अनुभव दोनों को एक साथ गूंथ देती है । संतू बाबू की व्यक्ति चेतना, जो स्वयं `नैरेटर` की भूमिका में भी है, उसी के माध्यम से ही उस स्थानीय परिवेश का वह समूचा परिदृश्य उभरता है जिसमें निम्न मध्यवर्गीय जीवन और आम जनजीवन की विडम्बनापूर्ण दशा अभिव्यक्त होती है । इस दृष्टि से इस उपन्यास के शिल्प में आत्मकथात्मकता की भी कुछ विशेषताएं मिल जाती हैं । लेकिन चूंकि इसमें सामाजिक यथार्थ की व्यापकता का भी विशेष महत्व

है, न कि केवल वैयक्तिक अनुभवों और चेतना का, इसलिए उपन्यास आत्मकथात्मक शैली की विशेषताओं को स्वीकार करने के बावजूद उससे अलग हट जाता है । उपन्यास के विकासमान स्वरूप में कथानक घटनाएं और दृश्य सब आपस में मिल जाते हैं ।

उपन्यास के शिल्प की कुछ ऐसी बनावट है कि पाठक उपन्यास के सभी प्रसंगों, स्थितियों और दृश्यों को पात्र संतू बाबू की चेतना के माध्यम से जान पाता है । संतू बाबू की यह चेतना अर्थात् उनका `में ` जहां पर अनुपस्थिति है, वहां पर कुछ अंतराल के लिए कथावर्णन की शैली प्रयुक्त की जाती है और फिर पहले की तरह `मैं ` का प्रवेश उपन्यास में हो जाता है । जितनी सहजता से लेखक दफ्तरी जीवन बाजार और दूसरे पात्रों से जुड़ी घटनाओं को एक दृश्य के रूप में पहले प्रकट करता है, फिर संतू बाबू में निजी जीवन के अनुभवों की ओर लौटता है, वह इस उपन्यास के शिल्प को भी अधिक संभावनापूर्ण बनाता है ।

`नौकर की कमीज` उपन्यास आठ खण्डों में विभक्त है । दृश्य-परिवर्तन और कथानक को एक निश्चित मोड़ देने के लिए इस खण्ड विभाजन की शैली का प्रयोग किया जाता है । खण्डों के परिवर्तन में संख्याओं का प्रयोग नहीं किया गया है । खण्ड के आरंभ में बड़े और कुछ अधिक स्पष्ट अक्षरों में कुछ पंक्तियां लिखी हुई मिलती हैं । यह गद्य पंक्तियां कहीं एक निश्चित अर्थ ध्वनित करने वाले सीधे सपाट वाक्यों के रूप में हैं और कहीं वे बिंबात्मक हैं । ऐसा आभास होता है कि उपन्यास के शिल्प में विभिन्न खण्डों के मूल भाव या कथ्य को सम्प्रेषित करने केलिए इन पंक्तियों को खण्ड के आरम्भ में लिख दिया जाता है । `नौकर की कमीज` में ही नहीं, बल्कि अपने बाद के अन्य दोनों उपन्यासों में भी लेखक ने

उपन्यासों को विभिन्न खण्डों में विभक्त करने केलिए इसी शैली का प्रयोग किया है । अंतर केवल यह है कि `नौकर की कमीज़` में जहां खण्ड के आरंभ की यह शीर्ष पंक्तियां एकार्थक न होने के बावजूद एक स्पष्ट भाव व्यंजित करती हैं, वहीं बाद के उपन्यासों में लिखित शीर्ष पंक्तियों में कुछ अधिक काव्यात्मक अमूर्तनता मिलती है । इसका कारण यह है कि बाद के दोनों उपन्यासों में कथ्य और दृश्य को व्यक्त करने वाली भाषा भी कल्पना और बिम्ब के चमत्कार से पूर्ण अधिक काव्यात्मक हो गई है । `दीवार में खिड़की रहती थी` उपन्यास के खण्डों की शीर्ष पंक्तियां तो छोटी कविता का ही रूप धारण कर लेती हैं । `नौकर की कमीज` और `खिलेगा तो देखेंगे ` में यह पंक्तियां कथ्य का संक्षिप्त ब्यौरा और संकेत देने का भी काम करती हैं । विनोद कुमार शुक्ल केउपन्यासों के शिल्प के इस पक्ष की विशेषता का वर्णन `खिलेगा तो देखेंगे ` के सन्दर्भ में करते हुए उदयन बाजपेई का कहना है -`विनोदकुमार शुक्ल किसी एक बात को शुरू करते हैं ; निष्प्रयोजन शुरू करते हैं और फिर उसका विस्तार करते हैं । जैसे संगीत में होता है । आप उनके शीर्षकों को पढ़ें । जो तमाम शीर्षक दिए गए हैं, उसमें उनका वही स्थान है जैसे महाभारत के आदिपर्व की शुरुआत होती है, जहां वे महाभारत की पूरी कथा कह देते हैं, उस तरह की कोई बात । याने महाभारतकार महाभारत सुनाने के पहले आपको महाभारत की कथा सुना देते हैं कि आप कथा के लिए मत पढ़ें, बल्कि इसको हम कैसे बरतने वाले हैं, आप उसे पढ़ें । `विनोद कुमार शुक्ल यह बता देते हैं `नौकर की कमीज` में - कितना सुख था कि घर से बाहर निकलकर घर लौटने की इच्छा होती थी - बता दिया कि बात यह होने वाली है । उसके बाद फिर संतू नाम का एक स्वर लायेंगे, एक स्वर पत्नी नाम का और एक स्वर उन की मां के नाम का और उनका एक विस्तार होगा और वे विस्तार करते चले जायेंगे ; जब तक वो संभव है । इस तरह वे स्ट्रक्चरिंग नहीं करते । मेरे हिसाब से यह हिन्दुस्तानी उपन्यास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण बात है ।`[5]

उपर्युक्त लम्बा उद्धरण इस बात को भी स्पष्ट करने के लिए सक्षम है कि उनके यहां शिल्प की मौलिकता उपन्यास के भावों और कथ्य के अनुरूप ही है । 'नौकर की कमीज़' में शिल्प अपनी किसी अनावश्यक कसावट से भावाभिव्यक्ति और कथानक को जटिल और दुर्बोध बनाने का काम नहीं करता । उपन्यास का खण्डों में विभाजन जहां एक ओर छोटी-छोटी घटनाओं और लघु प्रसंगों की निरंतरता को एक सूत्र में बांधने वाले कथानक को बिखरने से रोकता है, वहीं दूसरी ओर पाठकों में नए खण्ड की अन्तर्वस्तु के प्रति एक उत्सुकता के भाव को पैदा करता है । कथ्य के विस्तार के अनुसार खण्ड भी छोटे और बड़े हैं । उनके आकार में एकरूपता नहीं है । सबसे छोटा खण्ड संख्या के हिसाब से पांचवां खण्ड है और दूसरा खण्ड सबसे बड़ा खण्ड है । उपन्यास के विभिन्न खण्डों को किसी एक विषयक कथ्य अथवा घटना तक सीमित रखने के किसी नियम का प्रयोग नहीं किया गया है । एक ही खण्ड में अलग अलग, लेकिन परस्पर सम्बद्ध घटनाएं मौजूद हैं । जैसे कि पहले खण्ड में संतू बाबू के घर-परिवार, उनकी निजी मन:स्थितियों और पास-पड़ोस के जीवन की घटनाएं हैं, जबकि उसी खण्ड से उनके दफ्तरी जीवन के दृश्य भी खुलने लग जाते हैं । इसी प्रकार दूसरे खण्ड में मूलत: संतू बाबू के बरसात से टपकते मकान की समस्या और उनके पारिवारिक जीवन के नितान्त निजी क्षणों और पत्नी से उन के संवादों का कथ्य प्रधान है, लेकिन उसी खण्ड में पंसारी गुप्ताजी की दुकान में मिट्टी का तेल होने की सूचना को संतू बाबू के द्वारा झुग्गी-झोंपड़ियों तक पहुंचाने का भी प्रसंग मिलता है ।

उपन्यास में एक और शैली का प्रयोग किया गया है । वह है विभिन्न खण्डों में अलग-अलग प्रसंगों और घटना सूचक दृश्यों को अलग-अलग पैराग्राफ़

में विभाजित करना । इसी के माध्यम से विभिन्न घटनाओं के बीच विचाराभिव्यक्ति के लिए भी स्थान दिया गया है । परिवार, दफ्तर या आम जनजीवन और समाज से जुड़ी किसी घटना को पात्रों के संवादों या सूचना के द्वारा पहले व्यक्त किया जाता है और फिर लेखक उनके बीच अपने विचारों को लिखने लग जाता है । लेकिन उपन्यास के शिल्प में ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि वे लेखक के अपने विचार नहीं, बल्कि वे विचार संतू बाबू के आत्मचिंतन और अनुभवों की उपज हैं । इस प्रकार संतू बाबू के प्रतिनिधि चरित्र के माध्यम से ही लेखक के विचार उपन्यास में व्यक्त हुए हैं । उदाहरण स्वरूप उपन्यास के सातवें खण्ड में एक प्रसंग है । संतू बाबू दूसरे शहर में अपने भाई से मिलने जा रहे हैं और अपनी गर्भवती पत्नी की सुरक्षा के प्रति चिंतित हैं । घर से जाने के पूर्व उन के और पत्नी के बीच के कुछ संवाद-चित्र हैं । उसके बाद `पैराग्राफ` बदल जाता है । संतू बाबू इसमें अपनी पत्नी की सुरक्षा और अकेलेपन की समस्या पर एक विचारशील व्यक्ति की तरह सोचने लग जाते हैं । उनकी विचारशीलता की परिधि इतनी व्यापक हो जाती है कि वे स्त्रियों की सम्पूर्ण सामाजिक अवस्था के संदर्भ में अपनी पत्नी की असुरक्षा और समस्याओं के विषय में सोचने लग जाते हैं । वे इस प्रकार से सोचते हैं -`पत्नी की जान जाने से मैं दुखी होता, पर अपमानित नहीं होता । बलात्कार होने से लोगों की सहानुभूति मेरे साथ नहीं होती । लोगों के संदर्भ में सोचनेसे धोखा होता था । दूसरों की सहानुभूति हमारा स्वाभिमान तैयार करती थी ।`[6]

इसी प्रकार उपन्यास के दूसरे खण्ड में संतू बाबू अपने घर की छत के खपरों की मरम्मत कराने के लिए अपने मकान मालिक डाक्टर के भतीजे से बात कर रहे हैं । लेकिन बात के बीच में ही लेखक विचारात्मक गद्य के माध्यम से संतू बाबू और उनकी समूची स्थिति की विडम्बना की चर्चा

करने लग जाता है । उपन्यासकार की यह शिल्प वृत्ति इसी प्रकार उपन्यास के अनेक स्थानों पर मौजूद है ।

बाद के दोनों उपन्यासों में लेखक ने इस शिल्प का प्रयोग कम किया है । `सिलेगा तो देखेंगे ` में स्थानीय आंचलिक जीवन के बहुआयामी यथार्थ का विस्तृत चित्रण है । बल्कि यदि ये कहें कि उसमें लेखक ने स्थानीय आंचलिक और ग्रामीण जीवन को उसकी पूरी समग्रता में उभारा है तो ज्यादा सही ही रहेगा । लेकिन जनजीवन के इस व्यापक यथार्थ को उभारने में लेखक ने कथानक और आत्माभिव्यक्ति के लिए किसी अतिरिक्त विचारात्मक शैली का प्रयोग नहीं किया है । पात्रों के संवाद, जीवन की आम समस्याएं और घटनाएं और एक सम्पूर्ण आंचलिक परिदृश्य, उपन्यास का समूचा कलेवर इसी से निर्मित हैं । इसी प्रकार तीसरे उपन्यास `दीवार में खिड़की रहती थी` में भी बीच बीच में पात्रों के माध्यम से लेखक की अपनी विचारात्मकता का कहीं कोई प्रयोग नहीं हुआ है । इस उपन्यास के कथानक में भी जीवन के साधारण परिवेश, उसमें मौजूद दुःख-सुख की भावनाओं और तकलीफों का कहीं कोई चित्रण नहीं, इसलिए भी इस उपन्यास में किसी वैचारिक सोच और चिन्तन की गुंजायश नहीं बचती है । इस उपन्यास के शिल्प में कल्पनापूर्ण चमत्कार अधिक है । रोजमर्रा के जीवन यथार्थ के बारीक सत्यों के विश्लेषण के स्थान पर काव्यात्मक संवेदना और फैंटेसी मिश्रित प्रसंगों के सहारे उपन्यास के शिल्प का सृजन हुआ है ।

`नौकर की कमीज` का लेखक संतू बाबू के माध्यम से पहले निम्न-मध्यवर्गीय जीवन और उसके परिवेशगत यथार्थ को व्यक्त करता है और फिर कई बार उस यथार्थ के बारीक पहलुओं का विश्लेषण और व्याख्या

करता है । इस शिल्प-प्रविधि के प्रयोग से उसे यथार्थ के अव्यक्त पहलुओं की ओर संकेत करने की सुविधा प्राप्त हो गई है । उपन्यास में अनेक स्थानों पर ऐसा भी होता है कि एक विचार को वह पहले सीधे-सादे ढंग से कहता है और फिर संभवत: उस विचार की सम्प्रेषणीयता बढ़ाने के लिए वह उसे काल्पनिक प्रतीकों और बिम्ब के माध्यम से प्रस्तुत करने लग जाता है । उदाहरण के लिए उपन्यास के पृष्ठ एक-सौ अट्ठारह में संतू बाबू के मित्र संपत के रेडियो मैकेनिक बनने के प्रयत्न से संबंधित एक प्रसंग है । संपत का मानना है कि वे अधिक से अधिक मेहनत करके अपनी हालत सुधार लेंगे । जबकि संतू बाबू का मानना है कि मेहनत करके अपनी हालत नहीं सुधारी जा सकती । क्योंकि संतू बाबू का मानना है कि समाज में आदमी की कम से कम आमदनी और अधिक से अधिक आमदनी में भयानक अन्तर है । जो गरीब है, वह अमीर की नीयत पर शक नहीं करना चाहता, बल्कि अपनी-अपनी असुरक्षा के कारण अपने को ही दोषी मानता है । संतू बाबू के माध्यम से लेखक कहता है -"उनसे कहा जाए (गरीबों से) कि तुमने रईसों को बहुत माफ़ किया है, तब वे कहेंगे, माफ़ करने का काम उन लोगों का है ।"[7]

अब इसी विचार को और अधिक एक रचनात्मक कल्पना में ढाला जाता है । उससे समूची स्थिति को स्पष्ट करने वाला एक बिम्ब उभरता है । यह इस प्रकार है -"जिस प्रकाश की झलक फटे हुए गोल छेद से, सूर्य और चन्द्रमा जानकर देखते हैं, उनसे कहा जाए कि सूर्य और चन्द्रमा की खिड़की से कूद कर चोर की तरह वहां जाने की बात सोचने के बदले यदि पूरे आकाश को फाड़ दिया जाए तो पूरे आकाश जितना बड़ा सूर्य होगा और चन्द्रमा होगा । यह बात सोची जाए तब वे कहेंगे - ऐसे ही रहने दो । सूर्य कभी-कभी हमारे लिए रोज़ी का दिन भी ले आता है । और चन्द्रमा

कभी-कभी नींद की रात । कुछ उल्टा-सीधा हो गया तो हम मिलने वाले काम के दिन और नींद की रात को भी सो बैठेंगे ।'[8]

इस प्रकार पहले उपन्यास के चरित्रों के आपसी संवाद और व्यवहार से एक घटना का पैदा होना, फिर उस घटना से संबंधित विचार और विश्लेषण और फिर उसी विचार को पूरी तरह से स्पष्ट करने के लिए बिम्ब और प्रतीकों का इस्तेमाल । शिल्प की इस तकनीक के द्वारा लेखक अपनी अभिव्यक्ति और उसके निहितार्थों के विषय में किसी प्रकार की सन्देह भावना के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता ।

व्यंग्य-चेतना 'नौकर की कमीज़' की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है । उपन्यास में मौजूद इस व्यंग्य तत्व का सम्बन्ध न केवल शिल्प से है, बल्कि भाषा और कथ्य से भी है । व्यंग्य की कुछ विशेषतायें होती हैं । व्यंग्य में विभिन्न सामाजिक स्थितियों में छिपे हुए सत्य को उघाड़ने की ताकत होती है। वह स्थितियों के ऊपर पड़े शाश्वत सत्यता अथवा चिरंतन गंभीरता के आवरण को हटा कर उसके विडम्बनाजनक स्वरूप से हमारा साक्षात्कार कराता है । यह व्यंग्य की ही शक्ति का चमत्कार है कि हम रूखी वैचारिकता और शुष्क बौद्धिक उपदेशों का बोझ सहे बगैर वास्तविकता की तह तक पहुंचा जाते हैं । हिन्दी में श्री लाल शुक्ल और हरिशंकर परसाई आदि प्रसिद्ध व्यंग्य रचनाकारों के होने के बावजूद पाठकों को गंभीर व्यंग्य रचनाओं की कमी प्राय: खटकती है ।'नौकर की कमीज़' अपने में कोई व्यंग्य उपन्यास नहीं है, लेकिन इसके शीर्षक, कथानक, घटनाओं, संवादों और दृश्यों में उपस्थित व्यंग्यात्मकता इस कृति को दूसरी व्यंग्यप्रधान रचनाओं के निकट लाकर खड़ा कर देती है । उपन्यास में व्यंग्यात्मक वाक्यों वाले जो भी प्रसंग हैं, उनको पढ़ कर यह नहीं अनुभव

होता कि उपन्यास पर व्यंग्य चेतना किसी अतिरिक्त प्रयत्न से आरोपित की गई है । निम्नमध्यवर्गीय जीवन और उसके आसपास मौजूद जिस यथार्थ की चुनौतियों, क्रुता, तनावों और बोझिल नीरसता से रचनाकार का साक्षात्कार होता है, वही यथार्थ बोध उसकी इस रचना में एक स्वत:-स्फूर्त व्यंग्य शक्ति को पैदा कर देता है । स्वयं उपन्यास का शीर्षक ही मौजूदा नौकरशाही के अहसान-फरामोश, चरित्र पर तीखा प्रहार करता है । उसके बाद कथानक में तो छोटे छोटे वाक्यों के सहारे जीवन की तमाम विडम्बनाओं पर जो व्यंग्यात्मक प्रहार है, वह इस उपन्यास की रोचकता में वृद्धि करता है । अपनी इस व्यंग्य शैली के सहारे वस्तु-जगत केठोस दृश्यों के वर्णन में भी लेखक जीवन की छोटी-छोटी क्रु सच्चाइयों को जाहिर करता चलता है । एक तालाब का वर्णन होता है, जिसका पाट इतना ऊंचा है कि सड़क से उसका पानी नहीं दिखता और नां ही मछलियां । और इस साधारण वर्णन में भी लेखक अपनी व्यंग्य शैली में यथार्थ के जटिल सत्यों को अनावृत करने लग जाता है । वह लिखता है -'पर तालाब में बहुत सी मछलियां हैं, यह मैं जानता था और ठेकरदार भी । आंख से जो कुछ देखा जाता है, उसके साथ साथ दुनिया का काम अनुभव से चलता है । अनुभव से ज्यादा अंदाज से, जिसमें गलतियां ही गलतियां होती हैं । अंदाज से नहीं, होशियारी और चालाकी से भी दुनिया चलती है जिसमें गलतियों की सम्भावना कम होती है । इसमें खुद का नुक्सान कम, दूसरों का नुक्सान अधिक होता है । हम लोगों की सारी तक्लीफ उन लोगों की होशियारी और चालाकी के कारण थी जो बहुत मजे में थे और जिनसे हमारा परिचय नहीं था ।'[9]

'नौकर की कमीज' का लेखक एक ऐसा व्यंग्यकार है जो जीवन के प्रत्येक पहलू के प्रति सचेत है। वह अपने आसपास के वातावरण की वास्तविकता और दूसरों के जीवन की परिस्थितियों को अपने व्यंग्य के माध्यम से स्पष्ट करता चलता है । लेकिन उसकी व्यंग्य करने की शक्ति की असली परख तो

तब होती है जब वह संतू बाबू जैसे एक निम्नमध्यवर्गीय चरित्र को माध्यम से स्वयं अपना भी मजाक उड़ाता है । संतू बाबू अपनी पत्नी के आज्ञाकारी स्वभाव से संतुष्ट भी हैं और दु:खी भी । उनमें उन कारणों को पहचानने की चेतना है जिनके कारण उनकी पत्नी उनके सामने एक अत्यधिक विनीत, आज्ञाकारी और संकोची स्वभाव की स्त्री के रूप में रहती है । वे बड़े इत्मीनान से सामाजिक क्रूरता को एक स्वस्थ हास्य के माध्यम से समझाते हुए स्वीकार करते हैं -'बचपन से गाय को गाय कहना सीखा था । शादी के पूरी समझदारी से उसी तरह पत्नी को पत्नी कहना सीखा ।'[10]

जीवन में जिनके पास सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति होती है, उनके पास ही स्वरूप, मार्मिक और अचूक व्यंग्य करने की क्षमता होती है । साहित्य सृजन और रचनात्मकता के स्तर पर तो इस निरीक्षण शक्ति और व्यंग्यात्मकता का सम्बन्ध और भी गहरा और स्पष्ट होता है । लेखक की यह सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का ही प्रभाव है कि वह समाज में फैले हुए बेईमानी, धोखा और षडयंत्र के जाल को बखूबी पहचानता है । जो स्वयं उसे बेइमानी और षडयंत्र का शिकार है, वह अपने फायदे के लिए दूसरों को भी इस जाल में फंसा लेना चाहता है । अब देखिए कि इस एक आम सामाजिक वृत्ति को लेखक अपने व्यंग्य चेतना के सहारे किस आश्वस्त भाव से बताता है -'महंगू के तैयार हो जाने के बाद मैंने सोचा कि मैंने उस पर एक जाना पहचाना नुस्खा आजमाया है । महंगू को बिना एक कप चाय पिलाए भी मैं उससे साइकिल पुंछवा सकता था । परंतु बेगारी जो मेरी दृष्टि में एक गिरी हरकत बनती जा रही थी, उसे कराने में चाय का एक कप मुझे संतोष दे रहा था । जिसे मैं महंगू को पिलाने वाला था । चोरी के पैसे से भीख देने का संतोष । उस ब्राह्मण व्यापारी का तर्क, जिसकी पांच लड़कियां थीं और अकेला लड़का था, कि - ईश्वर ने उसे

पांच लड़कियां दी हैं, उनके दहेज के लिए वह व्यापार में बेईमानी करता था । अपनी बेईमानी के लिए उसने एक बहाना ढूंढ लिया था । हर बेईमान आदमी इसी तरह के बहाने ढूंढ कर बेफिक्री से बेईमानी करता था और ईश्वर उसकी सहायता करता था ।'[11]

उपन्यास की 'वस्तु' और कथोपकथन में किन्हीं विवरणों का अतिरिक्त बोझ पैदा करने के स्थान पर छोटे-छोटे व्यंग्य-वाक्यों के प्रयोग से उपन्यास को पढ़ना और समझना और अधिक सरल हो गया है ।उपन्यास का कथ्य जिस सामाजिक वास्तविकता से जुड़ा हुआ है, उसे एक व्यापक संदर्भ देने का काम भी इन्हीं व्यंग्योक्तियों के माध्यम से किया जाता है । इस प्रकार यह व्यंग्य शैली उपन्यास की घटनाओं को एक विशेष भाव या भावानुभूति तक सीमित न रख कर उन्हें एक वैचारिक धरातल प्रदान करती है । इससे जीवन के अनजाने सत्यों की अनेक तहें खुलती चली जाती हैं और उपन्यास की घटनाओं और कथा को हम एक व्यापक सामाजिक संदर्भों की पृष्ठभूमि के बोध के साथ पढ़ने लगते हैं ।

विनोदकुमार शुक्ल केउपन्यास 'नौकर की कमीज़' के शिल्प और भाषा में जो एक और विशेषता लक्षित होती है, वह है वह किसी सामान्य बात को भी एक सहजता से एक विस्तृत ब्यौरा देने की कला । बड़े इत्मीनान से जीवन की अति सामान्य से दिखने वाली बातों को एक विवरण की तरह प्रस्तुत करना और फिर उसी के सहारे मूल कथ्य या घटना तक पहुंचना । जैसे कि उपन्यास के आरंभ में ही पहले पृष्ठ की कुछ पंक्तियां इस प्रकार आती हैं -'घर बाहर जाने के लिए उतना नहीं होता, जितना लौटने के लिए होता है । बाहर जाने के लिए दूसरों के घर होते हैं, दूसरे यानी परिचित, या जिनसे काम हो । लौटने के लिए खुद का घर जरूरी होता है, चाहे किराये का एक कमरा हो या एक कमरे में कई किरायेदार हों ।'[12]

घर से बाहर जाना और घर लौटना - यह जीवन में पाई जाने वाली एक अति सामान्य बात है, लेकिन जिस तरह लेखक इसे एक ब्यौरे के रूप में प्रस्तुत करता है, वह उनकी पूरी अभिव्यक्ति में गहरा आकर्षण पैदा कर देता है । कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे कि लेखक कथानक, घटनाओं और दृश्यों के विस्तार की आवश्यकता को भूल गया है और उस पर जीवन की अति सामान्य स्थितियों और प्रसंगों को अनावश्यक खींचते जाने का पूर्वाग्रह हावी हो गया है । लेकिन सहज गद्य की भाषा में ऐसी स्थितियों को विस्तार देने की लेखक की यह प्रवृत्ति अखरती नहीं । क्योंकि जिस साधारण और सामान्य निम्नमध्यवर्गीय जीवन और उसके परिवेश को लेखक ने अपने उपन्यास के कथानक का आधार बनाया है, उसमें ऐसी ही अति-साधारण स्थितियां मौजूद होती हैं । उपन्यास में उनकी मौजूदगी लेखक की अभिव्यक्ति को अधिक रोचक और विश्वसनीय बनाती है ।

जीवन के इस अति-साधारण यथार्थ और उसके दुहराए जाने वाले क्रम को व्यक्त करने की प्रवृत्ति लेखक की कविताओं और दूसरे उपन्यासों में भी सर्वत्र मिलती है । उदाहरण के लिए उनके कविता संग्रह 'सब कुछ होना बचा रहेगा' की छोटी सी कविता को लिया जाता है । कविता है -- एक सुन्दर लड़की को देखना

एक सुन्दर लड़की को देखना
सौन्दर्य को सुंदर देखना है
वह अकेली सुंदर लड़की
जब वह आयी जब वह गयी
बहुतों ने उसे देखा
वह चली जायगी

शायद चली गयी ।
जिन लोगों ने उसे देखा
उन लोगों ने उसे देख लिया ।[13]

इस कविता में एक दृश्य-संकेत है जिसका किसी तथ्य की सूचना देने की तरह वर्णन किया जा रहा है । न कहीं कुछ असामान्य है और न कुछ रोमांचक या नाटकीय है । जीवन की एक सामान्य परिघटना को कविता के लय विधान में ढाल देने का प्रयत्न हुआ है । छोटे वाक्यों के संगठन से निर्मित उनकी इस गद्य शैली का प्रयोग बाद के दोनों उपन्यासों में भी है । 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' उपन्यास का तो आरंभ ही एक सपाट ब्यौरा प्रस्तुत करने वाली गद्य शैली के साथ इस प्रकार होता है -"आज की सुबह थी । सूर्योदय पूर्व की दिशा में था । दिशा वही रही आई थी, बदली नहीं थी । ऐसा नहीं था कि सूर्य धोखे से निकलता था, उसके निकलने पर सब को विश्वास था । सूर्य के उदय होने के प्रमाण की तरह दिन था और सूर्यास्त के प्रमाण की तरह रात हो जाती थी ।"[14]

बिना किसी तनाव या खिंचाव के सपाट ब्यौरे वाली इस भाषा के प्रयोग से उपन्यास में कई बार एक गतिहीनता का आभास कराने लगता है । लगता है जैसे कि पूरे उपन्यास का कथ्य शिथिल और अवरुद्ध हो गया है और उसमें अब किसी प्रकार के विकास की संभावना नहीं । लेकिन कथानक के गतिरोध को तोड़ने का काम लेखक अपने दृश्य-परिवर्तन की टेक्नीक के द्वारा करता है । यह दृश्य परिवर्तन अकस्मात न होकर इतनी धीरे से होता है कि लेखक पता ही नहीं चलने देता कि कहां से उसने किसी नए प्रसंग की शुरुआत कर दी है। पहले संतू बाबू के परिवार के प्रसंग चलते रहेंगे, उसके बाद संतू बाबू अचानक सड़क पर निकल आएंगे । और महावीर और झुग्गी-झोंपड़ी का वर्णन आरंभ हो जाएगा और फिर घटना चित्र बदलेगा और फिर दफ्तर के चरित्रों, उनके हालचाल और

वहां के वातावरण के विषय में लेखक बताने लग जाएगा । इस प्रकार जीवन में सामान्य को अति सामान्य की तरह प्रस्तुत करना और फिर अवरुद्ध कथानक को दृश्य परिवर्तन के ज़रिए दूसरी घटनाओं से जोड़ना, पूरे उपन्यास में एक सुचिंतित योजना के तहत ऐसे ही शिल्प का रचाव मिलता है । बाद के उपन्यास `खिलेगा तो देखेंगे ` के शिल्प में अनेक नवीन प्रयोग हुए हैं और शिल्प के स्तर पर एक नयापन पैदा करने की सृजनशीलता `दीवार में एक खिड़की रहती थी` में भी मिलती है । `खिलेगा तो देखेंगे ` में दृश्य जगत की क्रियाओं, काव्यात्मक गद्य, सूत्र वाक्यों, सामुदायिक जीवन के तमाम विवरण और फैंटेसी प्रधान भाषा के द्वारा शिल्प का निर्माण हुआ है । स्थानीय आदिवासी जीवन और उसकी आंचलिकता को इस प्रकार व्यक्त किया गया है जैसे कि उसके अभिप्राय लेखक के नहीं हैं, बल्कि चीज़ें खुद अपना अभिप्राय कह रही हैं ।

`दीवार में एक खिड़की रहती थी` की अन्तर्वस्तु अधिक द्वन्द्वरहित और कल्पना-प्रधान होने के कारण उसके शिल्प, प्रयुक्त प्रतीकों और बिम्बों और कल्पना प्रसूत कथोपकथन में एक अधिक जादुई आकर्षक पैदा करने का सफल प्रयत्न लेखक के द्वारा हुआ है । इस उपन्यास की भाषा की निश्छल सादगी पर टिप्पणी करते हुए कथाकार राजेन्द्र यादव ने लिखा है -`भाषा का इतना सहज रूप जैनेन्द्र के बाद पहली बार विनोद कुमार ने ही दिया है । जैनेन्द्र की भाषागत सादगी इसलिए सायास लगती है कि पीछे दार्शनिक जटिलताएं हैं - विनोदकुमार में वैसा कोई हस्तक्षेपीय तनाव नहीं है - न आर्थिक, न दार्शनिक । वह भीतर से बेहद इत्मीनानी (रिलेक्स्ड) लेखक की पारदर्शी भाषा है ।[15]

शब्द भाषा की एक आधारभूत इकाई है । शब्द अपने में किसी वस्तु, भाव, दृश्य अथवा क्रिया का बोध करानेवाला एक अर्थपूर्ण संकेत

है । शब्द के माध्यम से मनुष्य का ठोस भौतिक जगत और समाज से एक सम्बन्ध कायम होता है । इस प्रकार शब्द एक ऐसी अर्थपूर्ण ध्वनि है जो विभिन्न मानवीय व्यवहार और क्रियाकलापों में आपसी संगति और सम्बन्ध पैदा करने का काम करता है । शब्द की इस शक्ति के आधार पर किया गया शब्द-संयोजन ही सृजन, चिंतन,आम मानवीय क्रियाकलाप, संवाद और अभिव्यक्ति से सम्बन्धित गतिविधियों को संचालित करने का काम करता है । शब्दों के अस्तित्व और इतिहास का सम्बन्ध समाज में जारी ऐतिहासिक सामाजिक विकास की प्रक्रिया से होता है । इसलिए शब्दों को न तो कोई अमर जीवन प्राप्त होता है और ना ही उनकी ध्वनियों में निहित अर्थ शाश्वत होते हैं । नए शब्दों का जन्म होता रहता है और पुराने शब्दों को बदलते समाज की आवश्यकताओं और संदर्भों के अनुरूप नया अर्थ भी प्राप्त होता रहता है । आधुनिक समय में तकनालाजी, यंत्र, बाज़ार सभ्यता और व्यापक पूंजी-विनिमय की व्यवस्था के विकास का भाषा और उसकी इकाई शब्द पर अनेक प्रकार से प्रभाव पड़ा है । ग्रामीण अंचलों, लोक संस्कृति और पुराने सामुदायिक जीवन के स्तर पर प्रचलित शब्दों का प्रयोग अपर्याप्त माना जाने लगा है । समाज में ऐसे लोगों की संख्या में कमी आई है जिन का भरोसा शब्दों को सघन अनुभूति के माध्यम के रूप में देखने में है । समाज के आर्थिक-यांत्रिक विकास और दूर संचार केलिए शब्दों को एक उपयोगी माध्यम समझने का विचार अधिक फैला है । नगरीय जीवन के विकास को सभ्यता के विकास का प्रतीक मान लिया गया । इसके चलते भी भाषा - शब्द और उसमें निहित प्रतीक बिम्ब और मुहावरे अधिक नगरीय होते चले गए । साहित्यकारों का जीवन नगरीय समाज तक सीमित रह जाने के उनके जीवनानुभवों में व्यापक नहीं हो सके । व्यापक जीवनानुभवों के अभाव ने उन्हें जीवन में नए शब्द सीखने और साहित्य में उनके विवेक संगत प्रयोग की क्षमता को कुंद कर दिया । शब्द-विवेक और शब्द प्रयोग की

क्षमता के संकुचन का एक कारण यह भी है कि हमारे देश की आधी से ज्यादा आबादी निरक्षर और गरीब है । गांवों कस्बों और आदिवासी अंचल में रहने वाली इस आबादी के जीवन में प्रचलित तमाम भाषागत और शब्दगत विशिष्ट प्रयोग साहित्य में नहीं पहुंच सके । इस लिए देश में व्याप्तगरीबी, निरक्षरता और पिछड़ेपन से देश के आर्थिक सामाजिक जीवन कोक्षति होने के साथ साथ साहित्य और उसके भाषागत स्वरूप को भी क्षति पहुंचती है ।

विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास अपने भाषिक प्रयोगों के कारण भी साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने के अधिकारी बने । नौकर की कमीज की विषयवस्तु मूलत: निम्नमध्यवर्गीय जीवन पर आधारित होने के कारण इसकी भाषा, शब्द प्रयोग और मुहावरे सभी इसी जीवन और उसके परिवेश से प्रभावित हैं । हिन्दी में मध्यवर्गीय या निम्नमध्य-वर्गीय जीवन पर जितने भी अन्य उपन्यास लिए गए उनमें से कुछेक अपवादों को छोड़ कर अधिकांश में कम से कम शब्द प्रयुक्त हुए हैं । भाषा में प्रयोग किए जाने वाले बिम्ब और उसकी काव्यात्मकता भी इस शब्द-संकोच को कम नहीं कर सकी है । `नौकर की कमीज` के लेखक की चेतना भी निम्न-मध्यवर्गीय व्यक्ति की चेतना है । उसकी चेतना पर नवीन शब्द प्रयोगों की आकांक्षा का नहीं, बल्कि उसके अपने दृष्टिकोण और समस्याओं का दबाव है । भाव और भाषा का संतुलन कायम करने के लिए वे उतने ही शब्दों का उपन्यास में प्रयोग करते हैं जितने कि कथ्य को संप्रेषित करने के लिए अनिवार्य है । मामूली तथा रोजमर्रा की जिंदगी के शब्द ही उपन्यास की भाषा को रचने के काम में लाए गए हैं । `नौकर की कमीज़` के लेखक के इन शब्द प्रयोगों के विषय में नागबोल्स लिखते हैं - `विनोद कुमार का शब्द कोष संकुचित है । वे मामूली तथा रोज़मर्रा की जिंदगी के शब्दों का प्रयोग करते हैं । पर विनोद स्थितियों को

व्यक्त करते हैं । वे भी तो मामूली ही होती हैं । यदि जटिल, अप्रचलित और पांडित्यपूर्ण शब्दों का प्रयोग कर विनोद इन स्थितियों को असामान्य या आकर्षक बनाने की कोशिश करते तो यह निहायत ही एक फूहड़ काम होता ।'[16]

उपन्यास में प्राय: पात्रों के आपसी संवाद में असहाय, विश्लेषण, बंधन, कर्तव्य, निश्चित शंका, अधिकार , आश्चर्य इत्यादि ऐसे शब्दों का काफी प्रयोग है, जिनका प्रयोग प्राय: सुशिक्षित व्यक्ति अपने जीवन में करते हैं । उपन्यास के निम्न मध्यवर्गीय चरित्रों की स्थिति देखते हुए यह शब्द किताबी और असहज लगते हैं । लेकिन उपन्यास के सहज रूपतन्त्र और आम जनजीवन की सामान्य भाषा के प्रयोग के कारण इन शब्दों का सीमित इस्तेमाल कहीं नकारात्मक असर नहीं पैदा करता । शब्द-प्रयोगों की दृष्टि से `नौकर की कमीज` के विनोद कुमार शुक्ल के बाद के दोनों उपन्यासों से एक स्पष्ट अंतर दिखाई देताहै । `खिलेगा तो देखेंगे ` में व्यापक सामुदायिक जीवन है, इसलिए उसमें शब्द भी अधिक हैं । स्थानीय संस्कृति के बहुविध रूपों को व्यक्त करने में इन शब्दों का प्रयोग हुआ है । पशु पक्षी, गांव के कारीगरों के औजार, पेड़ और वनस्पति सभी कुछ अपने नामों के साथ उपन्यास में मौजूद हैं । `दीवार में एक खिड़की रहती थी` उपन्यास का सम्पूर्ण वातावरण प्रकृतिमय है, इसलिए प्रकृति के विविध अंगों और रूपों के वर्णन के कारण उसमें भी ऐसे कुशल शब्द संयोजन पर टिकी ऐसी सृजनशील भाषा का परिचय मिलता, जो किसी काव्यकृति का आभास कराती है । इस प्रकार `नौकर की कमीज` की भाषा को इस सावधानी से रचा गया है कि उसके माध्यम से कहानी के रूप में निम्न मध्यवर्गीय जीवन के तमाम पहलुओं को अभिव्यक्त किया जा सके । जबकि `खिलेगा तो देखेंगे` और `दीवार में एक खिड़की रहती थी` में कहानी के तत्व का उपन्यासों

में लोप हो गया है और भाषिक चमत्कार व स्वच्छंद कल्पना के सहारे छोटी-छोटी निर्द्वन्द्व स्थितियों और दृश्यों को उपन्यास में बुनागया है ।

उपन्यास में रचित ठोस काव्यात्मक गद्य इसलिए भी महत्वपूर्ण हो गया है क्योंकि वह पति-पत्नी के उन भावुक प्रेम सम्बन्धों, अनुभवों और आकांक्षाओं को व्यक्त करता है जो स्वयं अपनी प्रकृति में काव्यात्मक है । उपन्यास के गद्य की इस विलक्षण काव्यात्मक अमूर्तनता की समीक्षा करते हुए रवीन्द्र त्रिपाठी ने लिखा है `दीवार में एक खिड़की रहती थी` हमारे अनुभव करने के ढंग को बदल देती है । हम अपने आसपास को नए तरीके से देखने लगते हैं । उसमें वह देखने की कोशिश करते हैं जो अब तक `अनदेखा` था पर वहां मौजूद था । अमूर्तन के स्तर पर कविता यही करती है । इसी अर्थ में यह उपन्यास काव्यात्मक है ।[17]

इस उपन्यास में और इससे पूर्व के उपन्यास `खिलेगा तो देखेंगे ` दोनों में ही भाषा `वस्तु` की अभिव्यक्ति का एक माध्यम भर नहीं है बल्कि `वस्तु` से मुक्त होकर वह अपनी एक स्वायत्त सत्ता का आभास कराने लग जाती है । एक दूसरे स्तर पर उनके उपन्यासों के शिल्प और भाषा के अध्ययन के आधार पर निष्कर्षत: यह भी कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में शिल्प और भाषा का कोई स्थिर स्वरूप नहीं है । उनकी निरन्तर विकसित होती हुई कलात्मक दृष्टि के अधीन भाषा-शिल्प के स्तर पर एक प्रयोगधर्मिता की प्रवृत्ति लक्षित होती है । नौकर की कमीज़ में अपने अभिप्रेत विचारों को निम्नमध्यवर्गीय पात्रों के जीवन और उनके पारस्परिक सम्बन्धों से सहज उद्भूत और ध्वनित करते हैं, निष्कर्ष को आरोपित न करके चित्रित प्रसंगों में अन्तर्भूत करते हैं । विचारों और निष्कर्ष की प्रधानता के कारण भाषा और शिल्प में एक

सम्मोहक सादगी देखने को मिली । बाद के उपन्यासों में विचार और कथ्य का दबाव कम हो गया । यथार्थ की किसी सुनिश्चित पहचान को व्यक्त करने का आग्रह भी नहीं रहा । एक अर्थ में उनकी रचनाएं 'सुनिश्चितता' के प्रति हर प्रकार के आग्रह को अस्वीकार करती हैं । चाहे वह किसी सुनिश्चित शिल्प और भाषा का आग्रह हो या फिर किसी ठहरे यथार्थ के सुनिश्चित बोध और उसकी अभिव्यक्ति का आग्रह ।

संदर्भ

1. मैनेजर पांडे : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ0 208
2. रैल्फ फॉक्स : उपन्यास और लोकजीवन, पृ0 120
3. पूर्वग्रह : मार्च-जून 1984, पृ0 123
4. वही, पृ0 12
5. पुस्तक चर्चा : साक्षात्कार - सितम्बर 96, पृ0 159
6. नौकर की कमीज़, पृ0 227
7. वही, पृ0 118
8. वही, पृ0 119
9. वही, पृ0 15
10. वही, पृ0 111
11. वही, पृ0 203
12. वही, पृ0 7
13. सब कुछ होना बचा रहेगा, पृ0 81
14. दीवार में एक खिड़की रहती थी, पृ0 14
15. हंस : अगस्त, 1998, पृ0 13
16. नौकर की कमीज़ को लेकर : पूर्वग्रह, अगस्त 84, पृ0 203
17. एक घोलू प्रेमाख्यान : हंस : पृ0 89

उपसंहार

इस शोध प्रबन्ध का उपसंहार लिखते हुए साहिर का एक शेर बरबस याद आ रहा है । यह शेर है -

दुनिया ने तजुरबातो हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूं मैं

जीवन के अनुभवों को भोगना, उनसे सुख दु:ख, उल्लास और निराशा जैसे भाव ग्रहण करना और जीवन के आकर्षण से बंध कर निरन्तर जीने की चाह रखना, एक साधारण इन्सान की तरह एक रचनाकार भी इसी तरह जीता है । लेकिन एक रचनाकार सिर्फ जीने में ही विश्वास नहीं रखता । बल्कि साहिर के ऊपर उद्धृत शेर की तरह दुनिया से हासिल `तजुरबातो-हवादिस' के सहारे कुछ नया रच कर उसे अपनी कृतियों के रूप में दुनिया को लौटाता भी है । जीवन के सहेजे हुए अनुभवों की पूंजी को व्यक्त करने की बेचैनी, अभिव्यक्ति की उत्कट आकांक्षा, आत्मा पर सृजनशीलता का दबाव, यह उसे एक असाधारण संवेदना का इन्सान बना देते हैं । उसकी संवेदना की इस असाधारणता के विषय में किंचित मजाक के भाव से विलियम फाकनर कहा करते थे -`कलाकार वह जीव है जिसे शैतान चलाते हैं । वह नहीं जानता कि शैतान उसे क्यों चुनते हैं, और वह अपने कर्म में इतना व्यस्त होता है कि उसे आश्चर्य तक करने की फुरसत नहीं ।'

विनोदकुमार शुक्ल जी के एक ऐसे कलाकार हैं जो यथार्थ के अति साधारण पक्षों को अपनी असाधारण संवेदना से व्यक्त करते हैं । उनके उपन्यासों के विषय में अगर एक वाक्य में कुछ कहने का प्रयत्न किया जाए तो वह होगा - भावोद्रेक से सम्पन्न निम्नमध्यवर्गीय जीवन में आस्था । हिन्दी के उपन्यास जगत में उनके उपन्यास खासकर `नौकर

की कमीज़' इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उनकी यह आस्था एक नितान्त साधारण आदमी के अनुभवों में आस्था की प्रतीक है । उनके उपन्यासों में किसी जटिल बौद्धिक संवेदना या दार्शनिकता का तनाव नहीं है । जीवन में सवेरे से शाम तक मिलने वाले व्यक्ति के जीवन के छोटे छोटे अनुभवों को महत्वपूर्ण समझना और उन्हें अपने उपन्यासों में व्यक्त करना, यही वह सामर्थ्य है जो 'नौकर की कमीज' को एक कृति के रूप में और उसके कृतिकार को विलक्षण बना देता है ।

भाषा को अपनी अभिव्यक्ति की जरूरतों और भाव के अनुरूप एक मौलिक रूप देना विनोदकुमार शुक्ल के रचना-कर्म की एक विशेषता है । कहा जा सकता है कि साहित्य अनिवार्यतया एक शब्द-कर्म या भाषा का चमत्कार नहीं है । लेकिन साहित्य या कहें कि उपन्यास के कथ्य और संवेदना का सम्प्रेषण भाषा के माध्यम से ही संभव होता है । इसलिए एक माध्यम के रूप में भाषा का महत्व अत्यधिक है । एक सामाजिक निधि के रूप में समाज से प्राप्त भाषा का कलात्मक परिष्कार करना और उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाना, यह हर सच्चे और प्रतिभाशाली रचनाकार का संघर्ष होता है । इस अर्थ में अपनी भाषा को अपने उपन्यासों के विषय और भाव के अनुसार एक मौलिक संस्कार देने में जैसी सफलता विनोदकुमार शुक्ल को हासिल हुई है, वह दूसरे रचनाकारों के लिए ईर्ष्णीय हो सकती है ।

विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास 'नौकर की कमीज' में सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने का अर्थ है यथार्थ की मौजूदा विसंगतियों का खुलासा करना । रचना में प्रतिबिम्बित इस यथार्थ में उसकी विद्रूपताएं और विडम्बनाएं भी झलक उठती हैं । अपनी यथार्थपरकता की दृष्टि से यह उपन्यास सामंती कृषि सम्बन्धों और आधुनिक समाज में विकसित होने

वाले औद्योगिक पूंजीवादी सम्बन्धों के बीच की रचना है जिसमें निम्न मध्यवर्ग की प्रधानता है ।

किसी उपन्यास या अन्य विधा की रचना की आलोचना दो ढंग से की जा सकती है । एक तो उस समय की सामाजिक स्थितियों और परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर जिस समय उपन्यास लिखा गया और दूसरा उन वर्तमान सच्चाइयों और स्थितियों के संदर्भ में, जबकि उपन्यास का पढ़ा जा रहा है । नब्बे के दशक में तकनीकी ज्ञान, संचार, मूल्यों और राजनीति के क्षेत्र में जैसे द्रुतगामी परिवर्तन आए हैं, उन समकालीन संदर्भों में इस उपन्यास के विषय में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं । जो निम्नमध्यवर्ग उनके उपन्यासों का विषय है, वह आज की निम्न मध्य और मध्यवर्गीय मानसिकता की तरह उपभोक्तावादी मूल्यों और जीवन शैली के मोहपाश में फंसता हुआ नहीं दिखाई देता है । उसके आसपास की दुनिया अभी इस तेजी से नहीं बदल रही कि उसके घर, परिवार और परिवेश का पारंपरिक ढांचा चरमराने लग जाए । एक अपेक्षाकृत स्थिर, शांत और आत्मसंतुष्ट जीवन को सुरक्षित माहौल में जीना ही उसकी प्राथमिकता है । जीवन की इन्हीं निर्धारित प्राथमिकताओं के बीच विनोदकुमार शुक्ल के निम्नमध्यवर्गीय पात्रों का अपना एक विकासमान चरित्र है । चुनौतियों और जटिल यथार्थ से टकराहट के फलस्वरूप उनमें जीवन की नई समझ विकसित होती है । यह समझ उन्हें अपनी शक्ति और संकल्पों पर विश्वास करना सिखाती है। धीरज के साथ जीवन में आई समस्याओं, संकटों और नई परिस्थितियों का सामना करने की प्रेरणा देती है ।

इधर दो दशकों में साहित्य में ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गए हैं जो समाज के शक्ति संतुलन को बदलने की भावना से प्रेरित हैं । यह

उपन्यास समाज में वर्ण, वर्ग और 'जेंडर' के स्तर पर जारी असमानता और शोषण की असलियत को उभारते हैं । देश के असंतुलित विकास की अवधारणा के चलते मानव समाज का प्रकृति से सम्बन्ध भी बिगड़ने लगा है । इसके चलते विस्थापन, गरीबी और प्रकृति का विनाश जैसी अनेक नई समस्याओं ने जन्म लिया है । इस 'थीम' पर भी कुछेक श्रेष्ठ उपन्यास हिन्दी में लिखे गए । आज की समकालीन राजनीति में उन लोगों की भागीदारी और अधिकारों की मांग बढ़ी है जिन्हें अब तक शासन के बल प्रयोग और वर्चस्व की परम्परागत अवधारणाओं के जरिए समाज के हाशिए पर रखा गया था । दलित पिछड़े, स्त्रियां गरीब और अल्पसंख्यक इत्यादि ऐसे ही दमित और अधिकार-वंचित समूह हैं । यह एक ओर देश के लोकतन्त्र में आज भी सम्मानजनक स्थान पाने के लिए लड़ रहे हैं वहीं इनके जीवन की समस्याएं और पीड़ाएं अब साहित्य में घुलकर व्यक्त हो पा रही हैं । इन दलितों, स्त्रियों और वंचितों का साहित्य मानवीय समानता पर आधारित एक स्वस्थ समाज के निर्माण के सामूहिक प्रयत्नों का अंग है । इन विषयों पर आधारित उपन्यासों के लिए आलोचना के नए प्रतिमानों और सौन्दर्य शास्त्र को गढ़ने की जरूरत है । आलोचना के पुराने औज़ारों के प्रयोग की जिद को अगर नहीं छोड़ा गया तो आज के समय में लिखे जा रहे इन उपन्यासों के मूल्य और महत्व को सही ढंग से नहीं आंका जा सकेगा ।

ऐसे ही समय में जबकि जीवन के ठोस यथार्थ जगत में मौजूद असमानता के विभिन्न स्तरों और रूपों का विरोध करने वाले उपन्यास हिन्दी में लिखे जा रहे हैं, 'नौकर की कमीज़' जैसी कृति का महत्व अधिक बढ़ जाता है । इस उपन्यास में किसी जनक्रांति की गूंज या अन्याय के आगे रोमांटिक विद्रोह करने की कथा नहीं है । जीवन की प्रतिकूल स्थितियों और क्षुद्र अनुभवों से उपजे विक्षोभ और तिलमिलाहट ने व्यंग्य

का रूप धारण कर लिया है । घटनाओं में अविश्वसनीयता तक का आभास पैदा करने वाली नाटकीयता है । और इस सब से ऊपर तमाम तकलीफों के बीच जीवन के प्रति एक सहज रागात्मक लगाव, कौतुक, मस्ती और खिलंदड़पन का भाव है जो जीवन को जीने लायक बनाता है । एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार और उसके परिवेश के चित्रण के माध्यम से समाज में मौजूद व्यवस्था की निरंकुशता और अमानवीयता पर भी चोट की गई है । उपन्यास का जैसे मूल स्वर ही यह है कि देश के एक आम निम्न मध्यवर्गीय नागरिक को कमजोर समझकर उसके साथ मनमाना व्यवहार नहीं किया जा सकता है । सम्मान के साथ जीने के उसके हक की छीनना बेइन्साफी है । और अपने वैयक्तिक हितों के लिए अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर उसके जीवन में असुरक्षा और निराशा की भावना पैदा करना एक अत्यन्त निकृष्ट अपराध है ।

बाद के अपने दोनों उपन्यासों `खिलेगा तो देखेंगे ` और `दीवार में एक खिड़की रहती थी` में भाषा और रूपतन्त्र की मौलिकता के सहारे विनोदकुमार शुक्ल यथार्थवाद की सीमाओं से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते दिखाई देते हैं । यह दोनों उपन्यास अपने कथ्य और `क्राफ्ट` दोनों ही में `नौकर की कमीज़` से अलग हैं । इसलिए उनका मूल्यांकन अलग दृष्टि और प्रतिमानों की मांग करता है । वैयक्तिक अनुभवों और अनुभूतियों का महत्व उनकी सभी रचनाओं में है । लेकिन फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनका रचना कर्म और उसका विकास किसी एकांतिक व्यक्तिवाद के दर्शन की धुरी पर आधारित है । घर, परिवार प्रकृति और परिवेश के छोटे छोटे अनुभवों के प्रति एक रागात्मक लगाव रखना ही लेखक की जीवन दृष्टि है । लेखक की यही खूबी कुछ-कुछ `सुनार की चिमटी` की याद दिलाती है जो हर महीन और बारीक चीज़ को भी पकड़ कर हमारे सामने रख देती है।

सन्दर्भ पुस्तकें

1. नौकर की कमीज़ (उपन्यास) : विनोदकुमार शुक्ल
राज़कमल पेपर बैक्स, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण - 1994

2. खिलेगा तो देखेंगे (उपन्यास) : विनोदकुमार शुक्ल
आधार प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1996

3. दीवार में एक खिड़की रहती थी (उपन्यास) : विनोदकुमार शुक्ल
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997

4. महाविद्यालय (कहानी संग्रह) - विनोदकुमार शुक्ल
आधार प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्कार - 1994

5. लगभग जयहिंद (कविताएं) - विनोदकुमार शुक्ल
पहचान सिरीज : सम्पादक अशोक बाजपेई, प्रथम संस्करण - 1971

6. वह आदमी चला गया नया गरम कोट पहनकर विचार
की तरह (कविताएं) - विनोद कुमार शुक्ल
संभावना प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1981

7. सब कुछ होना बचा रहेगा (कविताएं) - विनोदकुमार शुक्ल
राजकमल प्रकाशन, नईदिल्ली, प्रथम संस्करण - 1992

8. प्रतिनिधि कविताएं - रघुवीर सहाय
राजकमल पेपर बैक्स : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 1994

9. दीवान-ए-गालिब : सम्पादक - अली सरदार जाफरी
राजकमल पेपर बैक्स : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
दूसरा पुनर्मुद्रित संस्करण - 1996

10. मजाज़ : जीवनी और संकलन
राजपाल एण्ड सन्ज़ , संस्करण - 1995

11. चाक (उपन्यास) - मैत्रेयी पुष्पा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1997

12. झीनी-झीनी बीनी चदरिया (उपन्यास) - अब्दुल बिसमिल्लाह
राजकमल पेपर बैक्स, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

13. एक बिथड़ा सुख (उपन्यास) - निर्मल वर्मा
राजकमल पेपर बैक्स : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
दूसरा पुनर्मुद्रित संस्करण - 1993

14. मुझे चाँद चाहिए (उपन्यास) - सुरेन्द्र वर्मा
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1993

15. उपन्यास और लोकजीवन (आलोचना) - रैल्फ़ फाक्स
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण -
दिसम्बर 1980

16. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका (आलोचना) : मैनेजर पाण्डेय
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, प्रथम संस्करण - 1989

17. संकट के बावजूद (सम्पादित पुस्तक) : संपादक - मैनेजर पाण्डेय
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1998

18. बीसवीं शताब्दी के अन्धेरे में साक्षात्कारों का संग्रह -
श्रीकान्त वर्मा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1982

19. भारत माता - धरती माता (लेखों का संग्रह) - राममनोहर लोहिया : सम्पादक - ओंकार शरद
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण - 1993

20. स्त्री : उपेक्षिता - सिमोन द बोउवार
हिन्दी अनुवाद - डा० प्रभा खेतान
हिन्द पाकेट बुक्स, दिल्ली, तीसरा पेपर बैक संस्करण - 1994

21. साहित्य तथा कला (विचारधारात्मक लेख एवं पत्र) - मार्क्स एंगेल्स
प्रगति प्रकाशन, मास्को, सोवियत संघ, संस्करण 1981

सहायक पुस्तकें (हिन्दी)

1. इतिहास और आलोचना (आलोचना) : नामवर सिंह
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण - 1986

2. वादविवाद संवाद (आलोचना) : नामवर सिंह
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण - 1991

3. संकट के बावजूद (लेखों का संग्रह) - संपादक मैनेजर पाण्डेय
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1998

4. मार्क्सवाद (आलोचना) - यशपाल
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सातवां संस्करण - 1983

5. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5 (आलोचना) - सम्पादक नेमिचंद जैन
राजकमल पेपर बैक्स, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,
संस्करण - 1985

6. साहित्य और सौन्दर्यशास्त्र (लेखों का संग्रह) - संकलनकर्ता : ये सीदोरोव
रादुगा प्रकाशन, मास्को, संस्करण - 1987

7. कला का जोखम (आलोचना) - निर्मल वर्मा
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण - 1984

8. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास (हिन्दी साहित्य का इतिहास) - रामस्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 1986

9. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास (हिन्दी साहित्य का इतिहास) - बच्चन सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 1996

10. समसामयिक हिन्दी साहित्य (आलोचना) - सम्पादक : हरिवंश राय बच्चन, नगेन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल
साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम पुनर्मुद्रित संस्करण - 1983

सहायक पुस्तकें (अंग्रेजी)

1. Marxism and Art (Writing on Esthetics and Criticism) – *Edited by Barel Long and Forrest Williams* Publication – David Mackay, New York, First Edition – 1972,

2. Indian Modernity, contradictions, Paradoxes and Possibilities (Sociological articles) – Dr. Avijit Pathak Gyan Publishing House, New Delhi – 1998.

3. Sociology, Themes and Perspective (A book on Sociology) – M. Haralambos Oxford University Press, Oxford, fifteenth impression – 1996.

4. Powers and Prospects, Reflections on Human Nature and the Social Order (A book of Essays) – Noam Chomsky *Madhyom Books, Delhi – 1996.*

5. Marxist – Leninist, Aesthetics and the Arts (Collection of Essays), *Progress Publications, Moscow* – 1980.

सहायक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएं

1. हंस : सं० राजेन्द्र यादव
अक्षर प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली

2. आजकल : सं० प्रतापसिंह बिष्ट
साहित्य एवं संस्कृति का मासिक, दिल्ली, कलकत्ता, लखनऊ आदि से प्रकाशित

3. साक्षात्कार : सं० अग्नेय
मध्यप्रदेश साहित्य परिषद का मासिक प्रकाशन

4. पूर्वग्रह : सं० अशोक बाजपेई
मध्य प्रदेश कला परिषद प्रकाशन, भोपाल

5. समकालीन भारतीय साहित्य : सं० गिरधर राठी
साहित्य अकादमी की द्विमासिक पत्रिका, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली